श्रीआत्मानन्द–जैनग्रन्थरत्नमालाया एकोनाशीतितमं (७९) रत्नम्।

महोपाध्यायश्रीयशोविजयविरचिता–

ऐन्द्रस्तुतिचतुर्विंशतिका.

(स्वोपज्ञविवरणयुता)

संपादकः—

मुनिपुण्यविजयः ।

प्रकाशयित्री

छाणिग्रामवास्तव्य–श्रेष्ठिगरबडदासतनूज–
नगीनदासस्य किञ्चिदूनद्रव्यसाहाय्येन
भावनगरस्था

श्रीजैन–आत्मानन्दसभा।

वीरसंवत् २४५४.	मूल्यम्–	विक्रमसंवत् १९८४
आत्मसंवत् ३३	चत्वार आणकाः	शकाब्दः १८४९

Published by Vallabhadas Tribhuvandas Gandhi, Secretary
Jain Atmanand Sabha, Bhavnagar, Kathiawar.

Printed by Ramchandra Yesu Shedge, at the
Nirnaya Sagar Press, 26-28, Kolbhat Lane, Bombay.

२	,,	शोभनमुनि	,,
३	,,	मेरुविजयगणि	,,
४	,,	यशोविजयोपाध्याय	,,
५	,, (अपूर्ण)	अज्ञात *	,,

२७ थी ३९ काव्य अगर श्लोकप्रमाण यमकालंकारमयी स्तुति-चतुर्विंशतिकाओ नीचे प्रमाणेनी मळे छे.—

"भद्रकीर्तेर्भ्रमत्याशा कीर्तिस्फारागणाध्वना ।
प्रभा ताराधिपस्येव श्वेताम्बरशिरोमणे ॥ ३२ ॥" तिलकमञ्जरी पृ ४
आमनु विशेष चरित्र जाणवानी इच्छावाळाए प्रभावकचरित्र उपदेशरत्नाकर आदि ग्रन्थो जोवा ।

१ शोभनमुनि महाकवि धनपाळना लघुभाइ थाय ।

२ मेरुविजयगणि विजयसेनसूरिना राज्यमां थया छे। तेमना गुरुनु नाम आनन्दविजयगणि हतु।

३ आ चतुर्विंशतिकानी प्रारंभनी सात ज स्तुतिओ (२८ काव्य) "दादासाहेबनी पूजा" आदि बुकोमां छपाई छे। पाछळनी मळती नहीं होय एम लागे छे।

* आ पांच स्तुतिचतुर्विंशतिका सिवायनी १६ काव्यप्रमाण आचार्य कल्याणसागरसूरिकृत पण एक मळे छे. परन्तु ते यमकालंकारमयी न होवाथी तेनी अहीं नोंध लीधी नथी।

४ आ स्तुतिओमां २४ पद्य प्रत्येक तीर्थंकरनी स्तुतिरूप होय छे, अने बाकी पद्य अनुक्रमे सर्व जिनस्तुति ज्ञानस्तुति तथा शासनाधिष्ठायकदेवतानी स्तुतिरूप होय छे, जे दरेक तीर्थंकरनी स्तुतिना पद्य साथे जोडीने बोलवानां होय छे। केटलीक चतुर्विंशतिकामां २७ करतां वधारे पद्य छे तेनु कारण मात्र एटलु ज छे के—तेमां *कल्याणकन्द के संसारदावानलनी माफक अथवा बीजे सामेल होय छे।* जेमां २९ करतां वधारे पद्य छे तेमां शाश्वतजिन, सीमंधर आदि जिनोनी स्तुतिनां पद्य पण सामेल छे एम जाणवुं।

७	,,	२९ श्लो०	चारित्ररत्नगणि	
८	,,	२९ का०	,,	
९	,,	२९ का०	धर्मसागरोपाध्याय	
१०	,,	२७ का०		
११	,, (यमकरहित प्राकृत)	२७ आर्या		
१२	शाश्वतजिनयुत विहर-मानजिनचतुर्विंशतिका	२७ का०		मुद्रित

उपर नोंध लीधी ते सिवायनी अन्य स्तुतिचतुर्विंशतिकाओ होवी जोइए, पण अत्यार सुधीमां जे जे दृष्टिपथमां आवी छे तेनी ज नोंध मात्र आ स्थळे करी छे। अहीं आपेल सूचीमांनी लगभग घणी खरी ऋषभादि वीरपर्यन्त जिननी तेम ज यमकालंकारमयी छे।

भणाववामाटे एकीसाथे सात सो स्तोत्र भेट आप्या हता। प्रत्यह नवीन स्तोत्रनी रचना कर्या पछी ज भोजन लेवुं एवी तेमने प्रतिज्ञा हती—

"पुरा श्रीजिनप्रभसूरिभिः प्रतिदिननवस्तवनिर्माणपुरःसरनिरवद्याहारग्रहणाभिग्रहवद्भिः प्रत्यक्षपद्मावतीदेवीवचसाऽभ्युदयिन श्रीतपागच्छ विभाव्य भगवतां श्रीसोमतिलकसूरीणां स्वशैक्षशिष्यादिपठनविलोकनाद्यर्थं यमक-श्लेष चित्र-च्छन्दोविशेषादिनवनवभङ्गीसुभगाः सप्तशतीमिताः स्तवा उपदीकृता निजनामाङ्किता. ॥"

सिद्धान्तागमस्तवावचूरिमारम्भे ॥

१ चारित्ररत्नगणि तपा सोमसुन्दरसूरिना शिष्य हता। तेमणे दानप्रदीप चित्रकूटविहारप्रशस्ति आदिनी रचना करी छे। तेओ विक्रमनी पंदरमी-सोळमी सदीमां विद्यमान हता।

२ धर्मसागरोपाध्याय विजयदानसूरिना शिष्य अने प्रसिद्ध आचार्य हीरविजयसूरिना गुरुभाइ हता। तेओश्रीए गच्छान्तरीओने पराजितकरवामाटे अनेक समर्थ अने प्रमाणभूत ग्रन्थोनी रचना करी छे। तेमनी कृतिओमां जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिटीका कल्पकिरणावली इरियावहीषट्त्रिंशिकासटीक पर्युषणादशशतक प्रवचनपरीक्षा षोडशश्लोकी औष्ट्रिकमतोत्सूत्रदीपिका तपागच्छीयपट्टावली आदि मुख्य छे।

आपी इतर अल्प प्रमाणमां ज जोवामां आवे छे, जेनी नोंध पण उपर लीधी छे। भिन्न भिन्न आचार्यादिकृत पर्वतिथिमाहात्म्यगर्भित तीर्थमाहात्म्यगर्भित तेम ज तीर्थकरोनी छुटक स्तुतिओ यमक पाद-पूर्त्तिरूप तथा सामान्यछन्दरूप घणा ज विस्तीर्ण प्रमाणमां उपलब्ध थाय छे।

आ सर्व चतुर्विंशतिकाओमांनी अगर छुटक कोइ पण चार पदनी स्तुति देववन्दनमां कायोत्सर्ग कर्या पछी अवश्य बोलवानी होय छे। तेमां नीचे प्रमाणेना अर्थाधिकारो–विषयो होय छे अथवा होवा जोइए—

अहिगयजिण पढम थुई, बीआ सवाण तइअ नाणस्स।
वेयावच्चगराणं, उवओगत्थं चउत्थ थुई ॥ ५२ ॥

देववन्दनभाष्य ॥

अर्थात्–प्रथम स्तुतिमां विवक्षित कोई एक तीर्थकरनी स्तुति, बीजीमां सर्व जिनोनी स्तुति, त्रीजीमां जिनप्रवचननी अने चोथीमां वैयावृत्यकर देवताओनुं स्मरण।

उपर जे स्तुतिचतुर्विंशतिकाओनी सूची आपवामां आवी छे ते पैकी शोभनमुनिकृत चतुर्विंशतिकाना अनुकरणरूप आपणी प्रस्तुत चतुर्विंशतिका छे एम तेनी साथे सरखावतां स्पष्ट रीते तरी आवे छे। आ अनुकरण छन्द अलंकार विशेषण भावार्थ आदि अनेक रीते करवामां आव्युं छे, एटलुं ज नहि पण केटलेक स्थळे तो वाक्यनां वाक्यो अने पदनां पदो पण नहि जेवो फेरफार करीने जेमनां तेम उपाध्यायजीए आहरी लीधां छे। जो आपणे बराबर तारवण

काढीए तो लगभग चोथा भाग जेटली स्तुतिओ एवी ज नजरे पडे छे जेमां शोभनस्तुतिमां आवतां केटलां एक विशेषणो मात्र शाब्दिक फेरफार करीने लीधेलां छे। जो के छन्द अने अलंकारमाटे कोईने दावो न ज होइ शके छतां शोभनमुनिए जे स्तुतिमाटे जे छन्द अने यमकालंकारनो जे भेद पसंद कर्यो छे तेने ज उपाध्यायजी पसंद करे ए उपरथी एटलुं तो कही शकाय के—तेओश्री समक्ष शोभनमुनिकृत स्तुतिओ ज मुख्यतया आदर्शरूप छे। आ प्रकारनी पसंदगीथी उपाध्यायजीने यमकालंकारमयी स्तुतिना निर्माणमां तेम ज शोभनस्तुतिमां पद—वाक्य—विशेषणोना आहरणमां केवी सुगमता थइ छे ए नीचेनां उदाहरणोपरथी समजी शकाशे—

काव्य	पाद		
८३	१	जलव्यालव्याघ्रज्वलनगजरुग्बन्धनयुधो	शो०
८४	१	गजव्यालव्याघ्रानलजलसमिद्बन्धनरुजो	ऐ०
४	३	पायाद्वः श्रुतदेवता निदधती तत्राब्जकान्ती क्रमौ	शो०
४	२-४	सौभाग्याश्रयतां हिता निदधती पुण्यप्रभाविक्रमौ	ऐ०
७२	१	याऽत्र विचित्रवर्णविनतात्मजपृष्ठमधिष्ठिता	शो०
७२	१-२	चक्रधरा करालपरघातमलिष्ठमधिष्ठिता प्रभा— सुरविनतातनुभवपृष्ठमनुदितापदरं गतारवा	ऐ०
१७	१	सुमते सुमते १८–४ विभवाः विभवाः	शो०
१७	१	सुमतिं सुमतिं १७–४ विभवं विभवं	ऐ०
२४	१	गान्धारि वज्रमुसले जयतः समीर	शो०
२४	२	गान्धारि वज्रमुसले जगती तवास्याः	ऐ०
२७	१	जयति शीतलतीर्थकृतः सदा	शो०
२७	१	जयति शीतलतीर्थपतिर्जिने	ऐ०
७१	१	नुदंस्तनुं प्रवितर मल्लिनाथ मे	शो०
७१	१	महोदयं प्रथितनु मल्लिनाथ मे	ऐ०

काव्य	पाद	
६६	१ व्यमुचच्चक्रवर्त्तिलक्ष्मीं०	शो०
६९	३ विगणितचक्रवर्त्तिवैभवं०	ऐ०
७१	१ भीममहाभवाब्धि०	शो०
७१	१ भीमभवोदधे०	ऐ०
८८	१ हस्तालम्बितचूतलुम्बिलतिका यस्या जनोऽभ्यागमत्	शो०
८८	३ दधात्यसिताम्रलुम्बिलतिकाविभ्राजिहस्ताऽद्भिनम्	ऐ०

अहीं जे वाक्योनी नोंध आपी छे ते उपाध्यायजीए पद-वाक्यादिनुं आहरण केवुं कर्युं छे ते जाणवा माटे। विशेषणो अने भावार्थनुं आहरण तो आखी स्तुतिमां स्थळे स्थळे जोवामां आवे छे। तेनां उदाहरणो आ स्थळे न आपतां जिज्ञासुओने ते स्तुतिओ साथे सरखाववा भलामण छे।

उपर कहेवामां आव्युं के—'प्रस्तुत चतुर्विंशतिका शोभनस्तुतिना अनुकरणरूप छे' ए उपरथी कोइए एम न मानी लेवुं के आ चतुर्विंशतिकामां कशी नवीनता ज नथी। उपाध्यायजीनी एवी कोइ कृति ज नथी के जेमां नवीनता तेम ज गांभीर्य न होय। ते गंभीरताने तेओश्रीए स्वयं टीकामां स्थळे स्थळे प्रकट करेल छे। अमे ते पंक्तिओने स्थूलाक्षरमां छपावी छे। आ पंक्तिओ शास्त्रीय गंभीर विचारोथी भरपूर छे।

आ ठेकाणे एक वात कहेवी जोइए के—जेम अन्य प्रतिभासंपन्न विद्वान् कविओनी यमकालङ्कारमय कृतिओ क्लिष्टार्थत्व दूरान्वयत्व आदि दोषोथी वंचित नथी रही शकी, ते ज प्रमाणे उपाध्यायजीनी प्रस्तुत कृति पण ते दोषोथी वंचित नथी ज रही शकी। जो के

केटलांक पद्यो एवां पण तारवी शकीए तेम छे के—जेमां आवा दोषो न पण होय, तथापि तेटला उपरथी आखी कृतिने निर्दोष तो न ज कही शकाय। नाने मोढे कहेवायली आ वातने विद्वानो क्षमानी दृष्टिथी जुए एम इच्छुं छुं।

प्रस्तुत स्तुतिना संपादनसमये तेनी स्वोपज्ञटीकायुक्त मात्र एक ज प्रति पूज्य श्रीमान् सागरानन्दसूरि महाराज पासेथी मळी छे। ते २४ पानानी अने नवीन लखेली छे। आ प्रतिनो उतारो जेना उपरथी करवामां आव्यो छे ते प्रति चोंटी गयेल हती। तेने उखाडतां तेमां जे स्थळे अक्षरो उखडी गया ते स्थान नवीन प्रतिमां खाली छे। लेखके प्रमादथी अनेक स्थळे पाठो छोडी दीधा छे एटलुं ज नहि पण ते लिपिनो अज्ञ होवाथी तेणे पण अशुद्धिओमां मोटो उमेरो कर्यो छे। आ रीते प्रस्तुत चतुर्विंशतिकानी प्रति अत्यंत अशुद्ध होवा छतां तेने शुद्ध करवामाटे तेम ज तूटी गयेला पाठोने उपाध्यायजीना शब्दोमां ज सांधवामाटे यथाशक्य यत्न कर्यो छे। प्रतिमां ज्यां ज्यां अशुद्धिओ हती ते दरेक स्थळे सुधारेला पाठो गोळ कोष्टकमां आप्या नथी, परन्तु लगभग अंदर ज सुधारी दीधा छे। आ प्रमाणे करवामां कोइ स्थळे प्रमादथी स्खलना थवा पामी होय तो ते माटे विद्वानो समक्ष क्षमा याचना छे।

उपरोक्त प्रति सिवाय एक अवचूरिनी प्रति प्रवर्त्तक श्रीकांतिविजयजी महाराजना छाणीना ज्ञानभंडारमांथी मळी छे। आ अवचूरि स्वोपज्ञ टीकाने आधारे करेल टांचणरूप होइ स्वोपज्ञ टीकाना ज शब्दोमां होवाथी टीकाना संशोधनमां क्वचित् क्वचित् सहायक थइ छे।

प्रस्तुत चतुर्विंशतिकानी प्रेसकॉपीने वळानिवासी न्याय–व्याकरणतीर्थ पं० श्रीबेचरभाइए तपासी तेमांनी अशुद्धिओमां घटाडो कर्यो छे।

उपरना सज्जनोनी सहायथी आ चतुर्विंशतिकाने ध्यानपूर्वक सुधारवा छतां स्खलना थइ होय अथवा अशुद्धि रही होय तो विद्वानो तेनुं परिमार्जन करे एम इच्छी विरमुं छुं।

पुण्यविजय.



अनुक्रमणिका ।

ग्रन्थनाम.	पत्रम्
ऐन्द्रस्तुतिचतुर्विंशतिका	१–८६
परमज्योतिष्पञ्चविंशतिका	८७
परमात्मपञ्चविंशतिका	९०
विजयप्रभसूरेः स्वाध्यायः	९३
शत्रुञ्जयमण्डनश्रीऋषभदेवस्तवनम्	९५

सूचना—

८ पृष्ठे १२ पङ्क्तौ "मुअ [अज्ञाविणा]" स्थाने "सुअसमाहि" इति ज्ञेयम् ॥

स्वोपज्ञविवरणयुता

ऐन्द्रस्तुतिचतुर्विंशतिका ।

॥ अर्हम् ॥

॥ श्रीमद्विजयवल्लभसूरिपादपद्मेभ्यो नमः ॥

श्रीमद्यशोविजयोपाध्यायविरचिता

ऐन्द्रस्तुतिचतुर्विंशतिका ।

स्वोपज्ञविवरणयुता ।

ऐन्द्रवृन्दनतं पूर्ण-ज्ञानं सत्यगिरं जिनम् ।
नत्वा विवरणं कुर्वे, स्तुतीनामर्हतामहम् ॥ १ ॥

ऐन्द्रव्रातनतो यथार्थवचनः प्रध्वस्तदोषो जगत्,
सद्यो गीतमहोदयः शमवतां राज्याऽधिकाराजितः ।
आद्यस्तीर्थकृतां करोत्विह गुणश्रेणीर्दधन्नाभिभूः,
सद्योगीतमहोदयः शमऽवतां राज्याऽधिका राजितः ॥१॥

ऐन्द्रेति ॥ 'इह' जगति 'जगत्' विशिष्टभव्यलोकम् 'अवताम्' उपदेशद्वारा रक्षतां तीर्यते संसारसमुद्रोऽनेनेति तीर्थं-प्रवचनं तदाधारत्वात् चतुर्विधः श्रमणसङ्घः तं कुर्वन्तीति तीर्थकृतः-अर्हन्तः तेषां मध्ये 'आद्यः' प्रथमः 'नाभिभूः' श्रीनाभिनृपनन्दन ऋषभदेवः 'सद्यः' तत्कालं 'शं' सुखं करोतु इत्यन्वयः । कथम्भूतः ? ऐन्द्रेण-इन्द्रसम्बन्धिना व्रातेन-समूहेन नतः-नमस्कृतः । पुनः किंविशिष्टः ? यथार्थम्-अबाधितं वचनम्-उपदेशो यस्य सः । पुनः किं० ? प्रकर्षेण-

अपुनर्भावलक्षणेन ध्वस्ताः–नाशिताः दोषाः–रागादयो येन सः। पुनः किं० ? 'शमवताम्' उपशमिनां 'राज्या' श्रेण्या गीतो महान् उदयः–[१]ज्ञानातिशयः महानाम्–उत्सवानाम् उदयो वा यस्य, गीते महोदये–कान्तिकरणे वा यस्य सः। पुनः किं० ? राज्याधिकारैः–राज्यकार्यैः [२]अजितः, अजित इति राज्येण मधियामारमरिय(!)तस्या-जित इति वा अनापादितसङ्क्लेशः, राज्ये आधिकाराः–मानसव्यथा-कारिणः शत्रवः तैः अजित इति वा, राज्याधिरेव कारा दुःखहे-तुत्वात् तया [३]*अजित इति वा* । पुनः किं कुर्वन् ? 'अधिकाः' प्रत्यहं प्रवर्द्धमानाः अधिकं कं–सुखं याभ्य इति वा, 'गुणश्रेणीः' [[४]प्रशमादि] गुणपरम्पराः 'दधत्' बिभ्रत्। पुनः किं० ? 'सद्योगी' सकलातिशायितया उत्तमो योगी–चरणर्द्धिसम्पन्नः। पुनः किं० ? इतः–प्राप्तो महोदयः–मोक्षो येन अत एव 'राजितः' शोभितः, न चात्र करणापेक्षा तदुदितविवक्षायामनियमात् (?), अधिकेन केन–सुखेन आ–समन्ताद् राजितः–शोभित इत्येकमेव वा विशेषणं व्याख्येयम्। अत्र च भगवतश्चत्वारः पूजाद्यतिशयाः प्रतिपादिताः, [तद्यथा– "ऐन्द्रव्रातनतः"] इति विशेषणेन सकलसुरासुरनिकायनायकप्रणा-मप्रतिपादनात् पूजातिशयः, "यथार्थवचनः" इत्यनेन विद्वज्जनीनो-पदेशपेशलपरमाप्तभावप्रतिपादनाद् वचनातिशयः, "प्रध्वस्तदोषः"

---

१ "ज्ञानम् अतिशयो वा" इत्यवचूर्याम् ॥ २ अत्र "अजित इति, राज्ये अधिक आर –अरिसमूहत्वेन अजित –अनापादितसंक्लेश इति वा" इति पाठः स्यात् ॥ ३ ग्रन्थेऽस्मिन् सर्वत्र पुष्पान्तर्गत पाठ लेखकप्रमादपतितत्वादस्माभि-र्मध्ये स्थापितः कल्पनयेति ज्ञेयम् ॥ ४ एतादृक् [ ] कोष्ठान्तर्गत पाठोऽस्मत्समीप-स्थादर्शगतत्वान्यस्थाने लिखितो ज्ञेय ॥

इत्यनेन च संस्कारवीत(संसारबीज)रागद्वेषोच्छेदप्रतिपादनाद् अपायापगमातिशयः, ["गीतमहोदयः" इत्यने-] न च निखिलयोगिजनवर्णनीय इत्य..............केवलज्ञानमाहात्म्यप्रतिपादनाद् ज्ञानातिशय उपदर्शित इति ॥ १ ॥

उद्भूताप्रतिरोधबोधकलितत्रैलोक्यभावव्रजा-
स्तीर्थे शस्तरसा महोदितभयाऽकान्ताः सदा शापदम् ।
पुष्णन्तु स्मरनिर्जयप्रसृमरप्रौढप्रतापप्रथा-
स्तीर्थेशास्तरसा महोदितभया [ः] कान्ताः सदाशापदम्॥२॥

उद्भूतेति ॥ ['तीर्थेशाः' तीर्थङ्कराः] 'तीर्थे' सङ्घे सतः-निदानाद्यकलङ्कितत्वेन ते.........सेतार्थप्राप्तोपचितं कुर्वन्तु, भवति हि उपाये प्रवृत्तानां............तत्राभिलापः । तदुक्तम्-भवतु......................प्रवृत्तमुपेयमाधुर्यमधैर्यकारि।"इति। कथम्भूतम् ? सदा 'शापदं' शापम्-उपालम्भं ददातीति शापदम्, अगर्हणीयमित्यर्थः। तीर्थेशः [किम्भूताः ? उद्भूतः-] ज्ञानावरणविलयेन प्रकटीभूतोऽप्रतिरोधः-क्षयोपशमावस्थाविरहादनिरुद्धप्रसरो यो बोधः-केवलज्ञानं तेन [कलितः-] साक्षात्कृतः त्रैलोक्यभावव्रजः-त्रिजगद्वर्तिपदार्थसार्थो यैस्ते । पुनः किं० ? शस्तः-सकलरसाभ्यर्हिततया प्रशस्तो रसः-शान्ताख्यो येषां ते, शस्ते-कल्याणे रसो येषां त इति वा। पुनः किं० ? महती-विपुला सती उदिता-उद्गता महैः-

१ "सताम्-उत्तमानाम् आशायाः-इच्छायाः पदं-स्थानं 'पुष्णन्तु' इष्टदाने फलवत् कुर्वन्तु ।" इत्यवचूर्याम् ॥ २ अत्र त्रुटितः पाठः "समीचीना या आशाः-इच्छाः तासां पदं-स्थानं 'पुष्णन्तु'......"इत्यादिर्भवेत् ॥

उत्सवैरुदिवा वा या भा–कान्तिः तया 'कान्ताः' मनोहराः । पुनः किं० ? स्मरस्य–कन्दर्पस्य निर्जयेन–विजयेन प्रसृमरा–प्रसरणशीला प्रौढप्रतापस्य प्रथा–ख्यातिः येषां ते । पुनः किं० ? 'तरसा' वेगेन महसा–तेजसा दितं–खण्डितं भयं यैस्ते । पुनः किं० ? 'अकान्ताः' नास्ति कान्ता येषां ते, अकस्य–दुःखस्य अन्तो येभ्यस्ते इति वा ॥२॥

जैनेन्द्रं स्मरतातिविस्तरनयं निर्माय मिथ्यादृशां,
सङ्गत्यागमऽभङ्गमानसहितं हृद्यऽप्रभावि श्रुतम् ।
मिथ्यात्वं हरदूर्जितं शुचिकथं पूर्णं पदानां मिथः,
सङ्गत्या गमभङ्गमानसहितं हृद्यप्रभाः ! विश्रुतम् ॥ ३ ॥

जैनेन्द्रमिति ॥ भोः 'हृद्यप्रभाः !' हृद्या–मनोज्ञा प्रभा–कान्तिः येषां ते यूयं 'जैनेन्द्रं' पारमर्षं 'श्रुतं' सिद्धान्तमाचाराङ्गादिकं 'हृदि' हृदये 'स्मरत' स्मृतिविषयं कुरुत । किं कृत्वा ? 'मिथ्यादृशा'मिथ्यादृष्टीनां 'सङ्गत्यागं' सम्बन्धपरित्यागं 'निर्माय' विधाय, मिथ्यादृष्टिसङ्गो हि क्षयोपशमभावं लब्धमपि निहत्य औदयिकभावसाम्राज्यमेव सम्पादयति, अत एव तत्संस्तवः सम्यक्त्वातिचार उक्तः परमर्षिभिरिति तत्परित्यागेनैव श्रुतस्मरणं श्रेयस्करमित्यूह्यम् । श्रुतं किं० ? अतिविस्तराः–बहुप्रपञ्चा नयाः–नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवम्भूतलक्षणा यत्र तत् । पुनः किं० ? अभङ्गम्–अभङ्गारहितं मानसं येषां तेषां हितं–प्रियावहम् । पुनः किं० ? 'ऊर्जितं' सूर्जितं मिथ्यात्वं हरत् । पुनः किम्भूतम् ? शुचयः–पवित्राः कथाश्च–धर्मकथितानि यत्र तत् । पुनः किं० ? पदानां 'मिथः' परस्परं 'सङ्गत्या' प्रसङ्गादिलक्षणया

'पूर्णम्' अन्यूनम्; यद्यपि सङ्गतिकर्म धर्म एव, तथापि पदानां परम्परया सङ्गतिमत्त्वं नानुपपन्नम्। पुनः किं० ? गमाः—सदृशपाठाः भङ्गाश्च—विकल्पविशेषाः मानानि च—प्रत्यक्षादिप्रमाणानि तैः सहितम्। [पुनः किं० ? 'विश्रुतं' प्रथितम्।] मिथ्यात्वं कीदृशम् ? 'अप्रभावि' प्रभावरहितम्॥ ३॥

या जाड्यं हरते स्मृताऽपि भगवत्यऽम्भोरुहे विस्फुर-
त्सौभाग्या श्रयतां हिता निदधती पुण्यप्रभाविक्रमौ।
वाग्देवी वितनोतु वो जिनमतं प्रोल्लासयन्ती सदा-
ऽसौ भाग्याश्रयतां हितानि दधती पुण्यप्रभावि क्रमौ॥४॥

॥ इति श्रीऋषभजिनस्तुतिः॥ १॥

येति॥ असौ वाग्देवी 'वः' युष्माकं 'सदा' नित्यं हितानि वितनोतु। किं कुर्वती ? 'जिनमतम्' आर्हतशासनं 'प्रोल्लासयन्ती' प्रभावयन्ती। पुनः किं कुर्वती ? भाग्यस्य—शुभादृष्टस्य आश्रयतां—स्थानतां 'दधती' बिभ्रती। जिनमतं कीदृशम् ? पुण्यं प्रकर्षेण भावयति तत् पुण्यप्रभावि। वाग्देवी पुनः किं कुर्वती ? 'अम्भोरुहे' कमले 'क्रमौ' चरणौ 'निदधती' स्थापयन्ती। कीदृशौ क्रमौ ? * पुण्यौ—पवित्रौ प्रभाविक्रमौ—कान्तिपराक्रमौ ययोः याभ्यां वा, प्रकृष्टौ भाविक्रमौ ययोस्तौ प्रभाविक्रमौ, ततः * पुण्यौ च तौ प्रभाविक्रमौ चेति वा समासः। असौ का ? या भगवती 'स्मृताऽपि' चिन्तिताऽपि किं पुनर्विशिष्य आराद्धेत्यपिशब्दार्थः, 'जाड्यम्' अज्ञानं हरते, **न च 'देवताप्रसादादज्ञानोच्छेदासिद्धिः, तस्य कर्मविशेषविनाशाधीनत्वात्' इति वाच्यम्, देवताप्रसादस्यापि**

क्षयोपशमाधायकत्वेन तथात्वाद्, द्रव्यादिकं प्रतीत्य क्षयोपशमप्रसिद्धेः, तदुक्तम्—

उदयक्खयक्खओवसमोवसमा जं च कम्मुणो भणिया।
दव्वाइँ पंच कप्पइ"

इति किमतिविस्तरेण ?। किम्भूता ? विस्फुरत्–विभ्राजमानं सौभाग्य–सुभगत्वं यस्याः सा। पुनः किं० ? 'श्रयता' भजतां 'हिता' हितकारिणी ॥ [illegible] ॥

॥ इति श्रीप्रथमजिनस्तुतिविवरणम् ॥ १ ॥

मुनिततिरपि यं न रुद्धमोहा,
शमजितमारमदं भवन्दिताऽऽपत्।
भज तमिह जयन्तमाऽऽप्तुमीशं,
शमऽजितमाऽऽरमऽदम्भवन् ! दितापत् ॥ १ ॥

मुनिततिरिति ॥ हे 'अदम्भवन् !' अकपटवन् ! त्वं दिता–खण्डिता आपद् येन,— वादृशाऽप्युरस्खलेनाऽप्युक्त छङ्कितमित्यर्थः(?),— 'श' सुखम् 'आप्तुं' लब्धुम् 'आरम्' अन्तरङ्गारिसमूहं 'जयन्तम्' अभिभवन्तम् 'इह' जगति वम् अजित भज। तं कम् ? यं 'मुनिततिरपि' योगिपङ्क्तिरपि 'न आपत्' न साक्षाचक्रे, तथा चावशितशान्तादगोचरत्वस्य (?) वार्त्ताऽपि दूर इति भावः। कीदृशी मुनिततिः ? रुद्धः–वशीकृतो मोहो यया सा। पुनः कीदृशी ? भेन–नक्षत्राख्येन ज्योतिष्कदेवभेदेन वन्दिता–स्तुता अभिवादिता वा। यं कीदृशम् ? शमेन जितौ मारमदौ–कन्दर्पा-

इङ्कारौ येन तम्; यद्यपि शमस्य क्रोधोपशामकत्वमेव, मारमदयोस्तु ब्रह्मचर्यमार्दवाभ्यामेव जयोपपत्तिः, तथापि शमसम्पत्तौ ब्रह्मचर्यमार्दवसम्पत्तिरपि प्रायो नियतैवेत्येवमुक्तिः । पुनः किं० ? 'इंसं' सामर्थ्यंधन्तं..................................मपि दुराराधत्वमुक्तं तत् कथमतिकृच्छ्रसाध्ये भगवद्भजनेऽस्ता(सा)दृशां प्रवृत्तिरिति चेत्, न, अतिकृच्छ्रसाध्येऽप्यर्थे च..निधिलाभाशाशतेन प्रवृत्त्यप्रतिबन्धादिति विभावनीयम् ॥ १ ॥

नियतमुपगता भवे लभन्ते,
　　परमतमोहर ! यं भयाऽनिदानम् ।
हर रुचिर ! ददद् जिनौघ ! तं द्राक्,
　　परमतमोहरयं भयानि दानम् ॥ २ ॥

नियतमिति ॥ हे 'परमतमोहर !' अनन्तभवप्रथितकर्मनाशक !, परमतमान्–उत्कृष्टतमान् ऊहान्–शुभोदर्कतर्कान् राति–ददाति तत्सम्बोधनं हे परमतमोहर ! इति वा; हे 'रुचिर !' मनोज्ञ !, कया ? 'भया' कान्त्या; हे 'जिनौघ !' भगवत्कदम्बक ! त्वं 'द्राक्' शीघ्रं *तम्* परेषां–शाक्यादीनां मते–दर्शने मोहः–यो दृष्टिरागः तस्य रयं–वेगं हर । त्वं किं कुर्वन् ? 'अनिदानं' निदानरहितं 'दानम्' अभयदानादिकं ददत् । तं कम् ? यम् 'उपगताः' आश्रिताः प्राणिनः 'भवे' संसारे 'नियतं' निश्चितं 'भयानि'

"इहपरलोगादाणमकम्हाआजीवमरणमसिलोआ ।
सत्त भयट्ठाणाइं, जिणेहिं अहंतभणिआइं ॥"

१ परदर्शनमोहवेगमित्यर्थः ।

इति तथाप्रसिद्धान् आतङ्कान् 'लभन्ते' प्राप्नुवन्ति ॥ २ ॥

नयगहनमऽतिस्फुटानुयोगं,
जिनमतमुद्यतमानसा ! धुतारम् ।
जननभयजिहासया निरस्ता-
ऽऽजि नमत मुद्यतमानसाधुतारम् ॥ ३ ॥

नयगहनमिति ॥ भोः 'उद्यतमानसाः!' निरन्तरम् उद्यतं-चरणकरणोपादानप्रणिधानप्रवणं मानसम्-अन्तःकरणं येषां ते तथा यूयं 'जननभयजि[हासया' संसारभयप्रहाणेच्छया 'जिनमत' जिनागमं] 'नमत' नमस्कुरुत, इत्थमेव विध्यर्थाराधनं कृतं भवति,....................परमार्थतो भवत्यागार्थनिर्जरार्थमेव श्रुताध्ययनोपदेशात् । तथा चाऽऽगमः—"चउव्विहा खलु सुअ [अज्झावणा] पण्णत्ता, तं जहा—सुअं मे भविस्सइ त्ति अज्झाइयव्वं भवति १, एगग्गचित्तो भविस्सामि त्ति अज्झाइयव्वं भवति २, अप्पाणं ठावइस्सामि त्ति अज्झाइयव्वं भवति ३, ठिओ परं ठावइस्सामि त्ति अज्झाइयव्वं भवति ४ ।" इति । कीदृशम् ? नयैः-नैगमादिभिः गहन-गम्भीरम् । पुनः किं० ? सूत्रार्थनिर्युक्त्यर्थनिरवशेषार्थप्रतिपादनक्रमाद् अतिस्फुटाः-अतिप्रकटा अनुयोगा यस्य तत् । पुनः किं० ? धुतः-कम्पित आरः-अरिसमूहो येन तत् । पुनः किं० ? निरस्तः-निराकृत आजिः-समामो येन यत्र वा तत् । पुनः किं० ? मुदा-समसुखसाम्राज्यलक्षणहर्षेण यतमानाः-ध्यानादौ प्रवर्त्तमाना ये साधवः-श्रमणाः तान् तारयति-भीमभवजलधिपारं प्रापयतीति तत् । न चात्र 'प्रवृत्त्युत्तरं

शमसम्पत्तिः, तत्सम्पत्तौ च प्रवृत्तिः' इत्यन्योन्याश्रयः शङ्कनीयः, विशिष्टशमवतः प्रवृत्त्युत्तरं विशिष्टशमसम्पत्त्या दोषाभावात् । अत एवोक्तम्—

"न साम्येन विना ध्यानं, न ध्यानेन विना च तत् ।
निष्कम्पं जायते तस्माद्, द्वयमन्योन्यकारणात् ॥"

इति ॥ ३ ॥

पविमपि दधतीह मानसीन्द्रै-
-र्महितमऽदम्भवतां महाधिकारम् ।
दलयतु निवहे सुराङ्गनाना-
मऽहितमदं भवतां महाधिकाऽरम् ॥ ४ ॥

॥ इति श्रीअजितजिनस्तुतिः ॥ २ ॥

पविमपीति ॥ 'इह' जगति 'मानसी' 'भवतां' युष्माकम् 'अहितमदं' शत्रुमयं 'दलयतु' निराकरोतु । किं कुर्वती ? 'इन्द्रैः' शक्रैः 'महितं' पूजितं 'पविं' वज्रम् 'अपि' पुनः 'सुराङ्गनानां' देवाङ्गनानां 'निवहे' समूहे 'महाधिकारं' प्रौढाधिपत्यं 'दधती' बिभ्रती । महाधिं कारयतीति 'महाधिकारम्' इति अहितमदविशेषणत्वपक्षे 'पविं' वज्रं शत्रुहननसावधानतया 'अपिदधती' अनाच्छादयन्ती इति व्याख्येयम् । भवतां कथम्भूतानाम् ? 'अदम्भवताम्' अकपटवताम् । मानसी कीदृशी ? 'अरम्' अत्यर्थं महैः—उत्सवैः अधिका ॥ ४ ॥

॥ इति श्रीअजितजिनस्तुतिविवरणम् ॥ २ ॥

---

१ एतदभिधाना शासनाधिष्ठात्री देवता ।

शम्भव ! सुखं ददत् त्वं,
भाविनि भावारवारवारण ! विश्वम् ।
वासवसमूहमहिता–
ऽभाविनिभाऽवाऽरवारवाऽरण ! विश्वम् ॥ १ ॥

शम्भवेति ॥ अभावि–अभविष्यत् निभं–कपटं यस्य,–वीतच्छद्मतया कर्मबन्धहेत्वभावात्,–तस्य सम्बोधनं हे अभाविनिभ !, भावारः–सम्यक्त्वच्छेदिमिथ्यात्वरूपभावचक्रस्यावयवविशेषः,–शब्दनयोपमहादाभिग्रहिकत्वादिर्गृह्यते,–तस्य वारः–समूहस्तं वारयति–निराकरोति यस्तस्यामन्त्रणं हे भावारवारवारण !, हे 'वासवसमूहमहित !' इन्द्रप्रजार्चित !, हे 'अरवारव !' अरवाणां–शब्दरहितानाम् अर्थात् मूकानाम् आरवः–शब्दो यस्माद्धेतुभूतात् "मूको जल्पति" इत्यादि स्तुतेः तस्य सम्बोधनम्, हे 'अरण !' असंग्राम ! *हे शम्भव !* त्वं 'विश्वं' सकलं 'विश्वं' जगत् 'अव' रक्ष । त्वं किं कुर्वन् ? 'भाविनि' शुभप्रणिधाने पुंसि 'सुखं' सातं 'ददत्' यच्छन् ॥ १ ॥

यद्धर्मः शं भविनां,
सन्ततमुदितोदितोऽदितोदारकरः ।
स जयतु सार्वगणः शुचि-
सन्ततमुदितोऽदितोदितोऽदारकरः ॥ २ ॥

यद्धर्म इति ॥ सः 'सार्वगणः' तीर्थंकरसमूहो जयतु । किम्भूतः ? शुचिः–निर्मला सन्तता–अच्छिन्नधारा मुदिता–परमुस्तुष्टिर्यस्य सः, शुचिना–मार्गेण सन्तता–अविरलप्रवाहापतिता

मुद्–आनन्दः ताम् इतः–प्राप्त इति वा । पुनः किं० ? अदितम्–अखण्डितं प्रमाणैरनाबाधितत्वात् उदितं–वचनं यस्य सः । पुनः किं० ? *न दाराः–स्त्रियः करः–दण्डश्च यस्य सः; कं–सुखं रातीति* वा करः, अदारश्चासौ कर इति वा । पुनः किं० ? उदारः–वार्षिकदाने प्रवणत्वात् निखिलयाचकप्रार्थितपूरणप्रसलः करः–हस्तो यस्य सः, उदाराः कराः–किरणा यस्य स इति वा । स कः ? 'यद्धर्मः' यदुपज्ञः श्रुतधर्मः 'भविनां' संसारिणां 'शं' सुखम् 'अदित'* ददौ *, लभन्ते हि सुखमवश्यं श्रुताद् विदिततत्त्वाः प्राणिनः, ततः शुभमात्रे प्रवृत्तिभावात्, अत एवोक्तम्—

"पावाओ विणिवित्ती, पवत्तणा तह य कुसलपक्खम्मि ।
विणयस्स य पडिवत्ती, तिण्णि वि नाणे समप्पन्ति ॥"

इति । कीदृशो यद्धर्मः ? 'सन्ततं' निरन्तरं सरमन्वरासमाऽभावेन (?)'उदितोदितः' उत्पत्तिकालादारभ्य यावदद्यत्वं लब्धोदय इति भावः ॥ २ ॥

जैनी गीः सा जयता–
त्र यया शमितामिता मिताक्षररुच्या ।
किं सन्तः समवतर–
न्नयया शमितामितामिताक्षररुच्या ॥ ३ ॥

जैनी गीरिति ॥ सा 'जैनी' आर्हती 'गीः' वाणी जयतात् । कीदृशी ? मितैः–स्वल्पैः अक्षरैः–वर्णैं रुच्या–मनोहरा, बह्वर्थमल्पाक्षरमेव हि सूत्रमामनन्ति, अत एवोक्तम्—

"सवणईणं जइ हुज्ज वालुया सवउदहिजं तोयं ।

इत्तो अणंतगुणिओ, अत्थो इक्कस्स सुत्तस्स ॥"

इति, तदेवमत्रार्थापेक्षमक्षराणां मितत्वम्, अन्यथा तु बहुहस्तिप्रमाणमषीपुञ्जलेख्यत्वाभिधानान्न तदुपपत्तिः; अथवा त्रिपदीरूपैव जैनी गीर्ग्राह्या, तस्याश्चोभयथाऽपि मिताक्षरत्वमेव। सा का? 'यया' हेतुभूतया 'सन्तः' संविग्नगीतार्थाः शमिता–क्षपिताऽमितामिता–अपरिमितरोगिता यत्र,– वेदनीयकर्मविटपिनः समूलमुन्मूलनाद्,– एतादृशं यद् अक्षर–मोक्षस्तस्य रुचिः–अभिलाषस्तया किं 'शमिताम्' उपशमसम्पन्नतां 'न इता' न प्राप्ताः? अपि तु प्राप्ता एवेत्यर्थः। कीदृश्या यया? समववरन्तः–अनुयोगापृथक्त्वदशायां प्रतिप्रतीकं समापतन्तो नयाः–नैगमादयो यस्याः सा, तदुक्तम्–

"अपुहत्ते समुआरो" इति।

समववरन्तः–समुद्भवन्तो नयाः–नीतयो यस्याः तयेति वा ॥३॥

दलयतु काञ्चनकान्ति–
जनतामहिता हिता हि ताराऽऽगमदा।
इह वज्रशृङ्खला दु–
र्जनतामऽहिताहिताहितारागमदा ॥ ४॥

॥ इति श्रीशम्भवजिनस्तुतिः ॥ ३ ॥

दलयत्विति ॥ 'इह' जगति वज्रशृङ्खला 'हि' निश्चितं 'दुर्जनतां' खलभावं दलयतु। कीदृशी? काञ्चनवत्–सुवर्णवत् कान्तिः–द्युतिर्यस्याः सा। पुनः किं०? जनतया–जनसमूहेन महिता–पूजिता। पुनः किं०? 'हिता' हितकारिणी। पुनः किं०? तारम्–उज्ज्वलम्

आगमं ददाति वरदानेन सा, 'तारा' उज्ज्वला 'आगमदा' श्रुतदायिनी इति च पदद्वयं वा व्याख्येयम्, तारायाः—सुगतदेवताया आगमं द्यति—खण्डयतीति वा, तारागे—सुरशाखिनि स्वक्रीडापर्वते वा मदः—स्मयो यस्याः सेति वा, तां—लक्ष्मीं राति—ददातीति तारस्तादृशो य आगमः—सज्जनसमागमस्तं ददाति सेति वा। पुनः किं० ? अहितेपु—वैरिपु आहितौ—स्थापितौ अहितारागमदौ—अप्रियस्नेहाहङ्काराभावौ यया सा ॥ ४ ॥

॥ इति श्रीशम्भवजिनस्तुतिविवरणम् ॥ ३ ॥

त्वमभिनन्दन ! दिव्यगिरा निरा—
कृतसभाजनसाध्वस ! हारिभिः ।
अहतधैर्य ! गुणैर्जय राजितः,
कृतसभाजन ! साध्वसहारिभिः ॥ १ ॥

त्वमिति ॥ हे 'निराकृतसभाजनसाध्वस !' निराकृतं सभाजनानां—पार्षदलोकानां साध्वसम्—इहलोकादिभयं येन स तस्यामन्त्रणम्, कया ? 'दिव्यगिरा' सर्वभापानुगामिन्या योजनगामिन्या सकलातिशयसम्पन्नया भापया, सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात् समासः; हे 'अहतधैर्य !' * अहतम्—अविनष्टं धैर्यं—धीरता यस्य स तस्यामन्त्रणम्, * कैः ? साधून्—उत्तमान् न सहन्तीति साध्वसहाः ते च तेऽरयः—शत्रवस्तैः; हे 'कृतं—विहितं "समाज प्रीतिदर्शनयोः" इति

---

१ यद्यपि "षह मर्षणे" धातोरात्मनेपदत्वं प्रसिद्धम् तथापि क्वचिदात्मनेपदस्यानित्यत्वमपि वैयाकरणैरिष्टमित्यदोषोऽत्र ।

धातोः समाजनं-संतोषो येन तस्यामन्त्रणम्, हे अभिनन्दन! त्वं जय। किंलक्षणः? 'राजितः' शोभितः, कैः? गुणैः, कीदृशैः? 'हारिभिः' मनोहरैः ॥ १ ॥

भगवतां जननस्य जयन्निहा-
ऽऽशु भवतां तनुतां परमुत्करः।
त्रिजगतीदुरितोपशमे पटुः,
शुभवतां तनुतां परमुत्करः ॥ २ ॥

भगवतामिति ॥ 'इह' जगति 'भगवतां' तीर्थकृतां 'उत्करः' समूहः 'शुभवतां' कल्याणिनां 'भवतां' युष्माकम् 'आशु' शीघ्रं 'जननस्य' संसारस्य 'तनुतां' कृशतां 'तनुतां' कुरुताम्। किं कुर्वन्? 'परं' शत्रुं 'जयन्' अभिभवन्। किंलक्षणः? त्रिजगतीदुरितस्य-त्रिभुवनपातकस्य उपशमे 'पटुः' समर्थः। पुनः किं०? परां-प्रकृष्टां सकलसांसारिकसुखातिशायित्वात् मुदं-मोक्षसुखं करोति यः स तथा। *न त्वत्र 'संसारस्य कालस्थितिरूपस्य तदभावः कर्तुं न शक्यते' इति शङ्कनीयम्, कर्मस्थितिनाशेन तत्तनूभावसम्भवात्, सूत्रप्रामाण्यात्, अन्यथा तदनुपपत्तेः; न च भगवतो........................संसारस्य यथावस्थितत्वात् नाशानुपपत्तिः' इत्यपि कुचोद्यं नाशङ्कनीयम्, भगवता भिद्दासभोग्यस्य ह्रास्ययोग्यतां यथा....*
........................ऽन्यत्र विस्तरः ॥ २ ॥

त्रिदिवमिच्छति यश्चतुरः स्फुर-
त्सुरसमूहमऽयं मतमऽर्हताम्।

स्मरतु चारु ददत् पदमुच्चकैः,
सुरसमूहमयं मतमऽर्हताम् ॥ ३ ॥

त्रिदिवमिति ॥ 'अयं' जनः 'अर्हतां' भगवतां 'मतम्' आगमं 'स्मरतु' ध्यायतु, कथम् ? उच्चकैः । कीदृशम् ? सुष्ठु-[शोभनो] रसः-शान्ताख्यो यत्र यस्माद् वा तत्। पुनः किं० ? 'ऊहमयं' प्रकृष्टविचारम् । पुनः किं० ? 'चारु' मनोहरम् । किं कुर्वत् ? 'अर्हतां' पूजयतां 'मतम्' इष्टं 'पदं' मोक्षलक्षणं ददत्, प्रवचनपूजाया मोक्षहेतुत्वात्, 'अर्हतां' योग्यतां ददत् 'मतम्' अभीष्टं 'पदं' स्थानम् इति व्यस्तं वा व्याख्येयम् । अयं कः ? यः 'चतुरः' विदुरः 'त्रिदिवं' [स्वर्गम् 'इच्छति'] समीहते। कीदृशं त्रिदिवम् ? स्फुरन्-दीप्यमानः सुरसमूहः-देवगणो यत्र तत् ॥ ३ ॥

धृतसकाण्डधनुर्द्यतु तेजसा,
न रहिता सदया रुचिराजिता ।
मदहितानि परैरिह रोहिणी,
नरहिता सदया रुचिराऽजिता ॥ ४ ॥

॥ इति श्रीअभिनन्दनजिनस्तुतिः ॥ ४ ॥

धृतेति ॥ 'इह' जगति रोहिणी 'मदहितानि' ममाऽप्रियाणि 'द्यतु' खण्डयतु । कीदृशी ? धृतं सकाण्डं-सबाणं धनुर्यया सा । पुनः किं० ? 'तेजसा' प्रतापेन 'न रहिता' [न वियुक्ता] । पुनः किं० ? सत्-शोभ[नम् अयम्-इष्टदैवं]यस्याः सा । पुनः किं० ? रुच्या-कान्त्या राजिता-शोभिता । पुनः किं० ? 'परैः' शत्रुभिः अजिता-अनभिभूता। पुनः किं० ? नराणां-म[नुष्याणां हिता-

हितकारि]णी । पुनः किं० ? 'सदया' सकरुणा, प्रभाविक........ .... । पुनः किं० ? ['रुचिरा'] रुचिं–सत्सङ्गतिं राति–ददातीति भावः ॥ ४ ॥

॥ इति श्रीमभिनन्दनजिनस्तुतिविवरणम् ॥ ४ ॥

नम नमदमरसदमरस-
सुमतिं सुमतिं सदसदरमुदारमुदा ।
जनिताजनितापदपद-
विभवं विभवं नर ! नरकान्तं कान्तम् ॥ १ ॥

नम नमेति ॥ हे नर ! त्वं सुमतिम् 'उदारमुदा' प्रकृष्टहर्षेण 'न[म'नमस्कु]रु । कीदृशम् ? नमन्तः अमराः–देवाः यस्य च्यवन.....................भवन वर्त्तते यः स सदमरसः, सुष्ठु–शोभना म[तिर्यस्य सः] सुमतिः, ततो भोग भगवन् म.....................तः । पुनः किं० ? सङ्गतया सदरोऽणस्य यश्चया......................... .... [अजनिता]पदस्य–संसारतापाप्रदस्य......... ....[भवः–] संसारो येन । पुनः किं० ? 'विभवं' संसार[रहितं...॥ १ ॥

अवचूरिः–'नम' प्रणम, नमदमरः–नमत्सुरः, सदमरसः–[1]दमरसेन सहितश्चासौ सुमतिः–शोभनमतिश्च तम्, सत्सु मध्येऽसदरः–निर्भयः, सँश्चासावसदरश्चेति वा तम्, हे उदार ! 'मुदा' हर्षेण जनितः–कृतः अजनितापदस्य–अभवतापदायकस्य पदस्य

---

1 टीकायाः खण्डितत्वादवचूर्या उपन्यासः ।

विभवो येन तम्, 'विभवं' संसाररहितम्, हे नर!, नरकस्य अन्तो यस्मात् तम्, 'कान्तं' मनोज्ञम् ॥ १ ॥

भवभवभयदाऽभयदा-
घली वलीयोदयोदयाऽमायामा ।
दद्याद्ऽद्याऽमितमित-
शमा शमादिष्टदिष्टबीजाऽवीजा ॥ २ ॥

भवभवेति ॥ 'अभयदावली' तीर्थकरश्रेणिः अद्य 'अमितम्' अपरिमितं 'शं' सुखं .... माया-कपटम् आमः-रोगश्च यस्याः सा । पुनः किं० ? इतः-प्राप्तः पुनः समापरिता येन यस्य । पुनः किं० ?.................................... सं दिष्टबीजम्-अदृष्टहेतुकं भययोरम्भ । पुनः किं० ? बीज ....यया ॥ २ ॥

अवचूरिः—भवभवं-संसारोद्भवं भयं ददातीति भवभवभयदा, 'अभयदावली' जिनश्रेणिः, बलीयान् दयोदयः-करुणोदयो यस्याः सा, 'अमायामा' अमायारोगा, दद्यात्, अद्य 'अमितम्' अमानम्, 'इतशमा' प्राप्तशमा, 'शम्' सुखम्, आदिष्टम्-आज्ञप्तं दिष्टबीजं-धर्माधर्महेतुर्यया, 'अबीजा' निर्जन्मा ॥ २ ॥

दमदमऽसुगमं सुगमं,
सदा सदानन्दनं दयाविद्याविद् ।
परमऽपरमऽस्मर ! स्मर,
महामहा धीरधी रसमयं समयम् ॥ ३ ॥

दमदमिति ॥ हे 'असर !' कन्दर्परहित ! त्वं 'सदा' नित्यं 'समयं' सिद्धान्तं 'स्मर' स्मृतिवि[षयं कुरु, अनेन कामादिवि]-प्लुतचित्तस्यानधिकारित्वं सूचितम् । कीदृशम् ? दमम्–इन्द्रियजयं ददाति यस्तम् । पुनः किं० ? 'असुगमं' दुष्प्रत्यूहम्, उपरतदुर्नष्टं म्रु पुष्टिं (?) । * पुनः किं० ? 'सुगमं' * सुष्ठु–शोभना गमाः–सदृशपाठाः यत्र तम् । पुनः किं० ? सताम्–उत्तमानाम् आनन्दनं–हर्षकारि । पुनः किं० ? 'परं' प्रकृष्टम् ।* पुनः किं० ? 'अपरम्' नास्ति परम्–उत्कृष्टं यस्मात् तम् । त्वं किम्भूतः ? * 'दयाविद्याविद्' दयाप्रतिपादकं शास्त्रं वेत्ति–जानाति यः, अहिंसाविधिज्ञानस्यैव समयज्ञानोत्कर्षदर्शनाद् अत्राव[श्यक]मिदं विशेषणम् । पुनः किम्भूतस्त्वम् ? 'महामहाः' महातेजाः । पुनः किं० ? धीरा–दृढसम्यक्त्वोपबृंहितत्वेनाऽक्षोभ्या धीः–बुद्धिर्यस्य सः । * पुनः किं० ? 'रसमयं' प्रकृष्टरसम् । * धीराणां धनस्तेषु स्थिरस्तेन तेऽपि समयस्यैवाविशेषणम् (धीराणां धीरसः–बुद्धिरसो येन तमिति समयस्यैव वा विशेषणम् ।) अस्मिन् पक्षे 'अयम्' इति विशेषणस्य कार्ये कारणोपचाराद् इष्टभाग्यजनकमित्यर्थः ॥ ३ ॥

काली कालीरऽसरस–
भावाभावाय नयनसुखदाऽसुखदा ।
महिमहितनुता तनुता–
दितादितामानमानरुच्या रुच्या ॥ ४ ॥
॥ इति श्रीसुमतिजिनस्तुतिः ॥ ५ ॥

कालीति ॥ कालीनाम्नी देवी 'असरसमावाभावाय' विरसभावापनयनाय 'कालीः' सुखालीः 'तनुतात्' कुरुतात्, न च 'एवं वैरस्यापनयनकामनया सुखस्य काम्यत्वात् तस्य निरुपाधिककामनाविषयत्वभङ्गः' इति शङ्कनीयम्, सुखहेतुविपर्योपनिपातस्यैवात्र काम्यत्वात्, मुख्यसुखस्य तथात्वाविरोधात् । काली कीदृशी ? नयनयोः–लोचनयोः सुखदा–सातदायिनी । पुनः किं० ? असुखं–दुःखं द्यति–खण्डयति या सा । पुनः किं० ? महिभिः–उत्सवैर्महिता–पूजिता चासौ नुता–स्तुता च महिभिर्महिताः तैः नुतेति वा, महिमहिताभ्यां–महत्त्वप्रधाभ्यां तद्गुणपुरुषाकारैः (?) नुता, प्राणिभिरिति गम्यत इति वा । पुनः किं० ? इतः–प्राप्तोऽदितः–अखण्डितः अमानः–अपरिमितो यो मानः–अहङ्कारः पूजा वा यत्र या रुचिः–अभिलाषः तया कृत्व 'रुच्या' मनोज्ञा, अथवा इता–प्राप्ता अदिता–अखण्डिता अमाना–अपरिमिता या मा–लक्ष्मीर्यया सा, पुनः किं० ? 'रुच्या' कान्त्या 'न अरुच्या' नाऽमनोज्ञेति व्याख्येयम् ॥ ४ ॥

॥ इति श्रीसुमतिजिनस्तुतिविवरणम् ॥ ५ ॥

पद्मप्रभेश ! तव यस्य रुचिर्मते स–
द्विश्वासमानसदयापर ! भावि तस्य ।
नोच्चैःपदं किमु पचेलिमपुण्यसम्पद्,
विश्वासमान ! सदयाऽपर ! भावितस्य ॥ १ ॥

---

१ "असरसभावस्य–दौर्जन्यस्य अभावाय–अपनयनाय" इत्यवचूरिः ॥

पद्मप्रभेशेति ॥ हे 'सद्वि०पर!' सन्–शोभनः श्रद्धयाऽनभिभवनीयो विश्वासः–जिनवचनप्रामाण्यप्रतिपत्तिरसो यत्र एतादृश मानसम्–अन्तःकरणं येषां तेषु दयापरः, यद्यपि भगवतः सर्वेष्वपि जीवेषु अविशेषेण कृपालुत्वात् कृपाऽस्त्येव, अन्यथा माध्यस्थ्यहानिप्रसङ्गात्, तथापि येषु तत्पतत्तं सोच्चालक्षणमभ्युदयादिस(?) तत्रैव परमार्थतः सा न त्वन्यत्रापीति निश्चयाश्रयणादित्थमुक्तम्, तस्यामन्त्रणम्, हे 'विश्वा०'विश्वे–जगति असमानः–निरुपमानः तस्यामन्त्रणम्, हे 'सदय!' सत्–शोभनम् अयम्–इष्टदैवं यस्य तस्यामन्त्रणम्, हे 'अपर!' नास्ति परः–शत्रुर्यस्य नास्ति परः–उत्कृष्टो वा यस्मात् तस्यामन्त्रणम्, हे 'पद्मप्रभेश!' पद्मप्रभस्वामिन्! 'यस्य' पुंसः तव 'मते' शासने 'रुचिः' श्रद्धा अस्तीति शेषः, तस्य 'उच्चैःपदं' सुदेवत्वमोक्षादिलक्षणमुत्कृष्टपदं किमु 'न भावि' न भविष्यति? अपि तु भाव्येवेत्यर्थः। कीदृशस्य तस्य? 'भावितस्य' वासितस्य। पदं किम्भूतम्? पचेलिमा–परिपक्का पुण्यसम्पत्–शुभप्रकृतिसमृद्धिः पुण्या–पवित्रा वा सम्पत्–शाश्वतानन्दरूपा यत्र तत्॥ १ ॥

मूर्त्तिः शमस्य दधती किमु या पटूनि,
पुण्यानि काचन सभासु रराज नव्या।
सा स्तूयतां भगवतां विततिः स्वभक्त्या,
पुण्याऽनिकाचन! सभा सुरराजनव्या ॥२॥

---

१ अत्र "तत्फलं मोक्षलक्षणमभ्युदयेत् तत्रैव" इतिरूप पाठो भवेत्॥

मूर्त्तिरिति ॥ हे 'अनिकाचन !' निकाचनं नाम सकलकरण(णा)योग्यत्वेन कर्मबन्धव्यवस्थापनम्, तच्चात्र मिथ्यात्वविषयं गृह्यते, ततो नास्ति निकाचनमस्येत्यनिकाचनः तस्यामन्त्रणम्, एतेन निकाचितमिथ्यात्वमोहाः पुमांसोऽनामन्त्रणीया एव, तेषां भगवद्भजनानधिकारित्वात्; अचिन्त्यचिन्तामणिलाभकल्पं खल्वेतत्, नाऽतो मन्दभागधेयानां तेषामेतल्लाभ इति व्यज्यते । त्वया सा 'भगवतां' तीर्थकृतां 'विततिः' श्रेणिः स्तूयताम्, कया ? 'स्वभक्त्या' आत्मीयश्रद्धया, परानुवृत्त्या तु तस्या द्रव्यस्तुतिमात्रत्वेनाल्पफलत्वात् । कीदृशी ? 'पुण्या' पवित्रा । पुनः किं० ? 'सभा' सह भया–लक्षणया प्रशस्तकान्त्या वर्तत इति सभा, नाऽतोऽपुष्टार्थकत्वम् । पुनः किं० ? सुरराजैः–देवेन्द्रैः नव्या–स्तव्या, सह भैः–नक्षत्रैर्वर्तन्ते ये ते सभाः ते च तेऽसुरराजाः–असुरेन्द्राश्च तैः नव्या–स्तव्या इत्येकमेव वा विशेषणम् । सा का ? या 'पटूनि' प्रौढानि 'पुण्यानि' शुभकर्माणि 'दधती' विपाकानुभवेन पुष्णती 'सभासु' पर्षत्सु 'रराज' शुशुभे 'किमु' उत्प्रेक्षे—'शमस्य' शान्तरसस्य 'नव्या' नवीना 'काचन' अनिर्वचनीया 'मूर्त्तिः' तनुः ॥ २ ॥

लिप्सुः पदं परिगतैर्विनयेन जैनीं,
वाचं यमैः सततमञ्चतु रोचितार्थाम् ।
स्याद्वादमुद्रितकुतीर्थनयावतारां,
वाचंयमैः सततमं चतुरोचितार्थाम् ॥ ३ ॥

---

१ "भगवतां विततिः कीदृशी ?" इति शेषम् ॥

लिप्सुरिति ॥ सह ततया—विस्तीर्णया मया—लक्ष्म्या वर्तते यत् तत् सततमम्, सह तया—लक्ष्म्या वर्तते यत् तत् सतम् अतिशयितं सतं सततममिति वा, 'पदं' सुदेवत्वलक्षणं 'लिप्सुः' लब्धुमिच्छुः पुरुषः 'जैनीम्' आर्हतीं 'वाचं' सरस्वतीं 'सततं' निरन्तरम् 'अञ्चतु' पूजयतु; केन ? विनयेन, अविनयेन पूजनं तु परमार्थतोऽपूजनमेवेति भावः । जैनीं वाचं किम्भूताम् ? रोचितः—अञ्चितोऽर्थः—प्रतिपाद्यविषयो यस्याः सा ताम्, कैः ? 'श्रामयमैः', श्रमणैः, किम्भूतैः ? 'यमैः' अहिंसासत्यास्तेयब्रह्माकिञ्चन्यलक्षणैर्महाव्रतैः 'परिगतैः' आश्रितैः । पुनः किम्भूताम् ? स्याद्वादेन—यथास्थानं द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयार्पणोपनीतसप्तभङ्गात्मकवाक्येन मुद्रिताः—प्रतिहतोत्थानाः कुतीर्थानां—बौद्धादीनां नयानाम्—ऋजुसूत्रादीनाम् अवताराः—उपन्यासविशेषाः यया सा तथा ताम् । पुनः कीदृशीम् ? चतुराणां—सुपरिज्ञातहेयोपादेयानाम् उचितः—योग्यः अर्थः—पुमर्थो यस्यां सा तथा * ताम् * ॥ ३ ॥

साहाय्यमत्र कुरुषे शिवसाधने या—
ऽपाता मुदा रसमयस्य निरन्तराये ! ।
गान्धारि ! वज्रमुशले जगतीं तवाऽस्याः,
पातामुदारसमयस्य निरन्तराये ! ॥ ४ ॥

इति श्रीपद्मप्रभस्तुतिः ॥ ६ ॥

साहाय्यमत्रेति ॥ हे 'निरन्तराये !' निर्गता अन्तरायाः—प्रत्यूहा यस्याः तस्या आमन्त्रणम्, पुनः हे 'निरन्तराये !', निरन्तरः—अप्राप्तविच्छेद आयः—लाभो यस्याः तस्या आमन्त्रणम्, हे गान्धारि !

अस्यास्तव धनमुशाले 'जगतीं' पृथिवीं 'पातां' रक्षताम् । अस्याः कस्याः ? या त्वम् 'अत्र' जगति 'रसमयस्य' प्रकृष्टशान्तरसस्य 'उदाररसमयस्य' स्फारसिद्धान्तस्य 'शिवसाधने' मोक्षसम्पादने निरुपद्रवोपाये वा 'मुदा' हर्षेण 'साहाय्यम्' एककार्यनिर्वर्त्तनप्रवणतां 'कुरुषे' तनुषे । त्वं कीदृशी ? 'अपाता' पातरहिता ॥ ४ ॥

॥ इति श्रीपद्मप्रभस्तुतिविवरणम् ॥ ६ ॥

यदिह जिन ! सुपार्श्व ! त्वं निरस्ताकृतक्ष्मा-
वनमद ! सुरवाधा हृद्यशोभाऽवतारम् ।
तत उदितमजस्रं कैर्बुधैर्गीयते ना-
ऽवनमदसुर ! बाधाहृद् ! यशो भावतारम् ॥ १ ॥

यदिहेति ॥ हे 'निरस्ताकृतक्ष्मावनमद !' क्ष्मायाः—पृथिव्याः अवनं—रक्षणं क्ष्मावनम्, अकृतम्—अविहितं क्ष्मावनं येन तादृशो यो मदः—"अहमुत्तमजातिमान्" इत्याद्यवलेपः सोऽकृतक्ष्मावनमदः, निरस्तोऽकृतक्ष्मावनमदो येन तस्यामन्त्रणम्; हे 'सुरव !' सुष्ठु—शोभनः संस्कारवत्त्वादिगुणोपेतत्वाद् रवः—ध्वनिर्यस्य तस्यामन्त्रणम्, हे 'अवनमदसुर !' अवनमन्तः—प्रणमन्तोऽसुराः—दनुजा यस्य तस्यामन्त्रणम्, हे 'बाधाहृत् !' बाधां—शारीरमानसाद्यनेकभेदभिन्नं दुःखं हरतीति बाधाहृत् तस्यामन्त्रणम्, हे 'हृद्यशोभ !' मनोहरश्रीक !, हे सुपार्श्व जिन ! त्वं 'इह' जगति यदिति वाक्यार्थकर्म 'अवतारं' जन्म 'अधाः' धृतवान् 'ततः' तस्मात् 'उदितम्' उत्पन्नं यशः

'कैर्बुधैः' कैः पण्डितैः 'अजस्रं' निरन्तरं भावेन–श्रद्धया तारम्–उच्चैर्यथा स्यात् तथा न गीयते ? *अपि तु* सर्वैरपि परोपकारसारत्वदवतारजनितं यशो विचित्रचरित्रप्रबन्धेन गीयत इति भावः ॥ १ ॥

जगति शिवसुखं ये कान्तिभिर्भासयन्तो–
ऽदुरितमदरतापध्यानकान्ताः सदाऽऽशाः ।
जिनवरवृषभास्ते नाशयन्तु प्रवृद्धं,
दुरितमऽदरतापध्यानकान्ताः सदाशाः ॥ २ ॥

जगतीति ॥ ते जिनवरवृषभाः 'प्रवृद्धं' बहुभवोपचितं 'दुरितं' ज्ञानावरणीयादिदुष्टविपाकं कर्म 'नाशयन्तु' क्षपयन्तु । किम्भूताः ? न स्तो दरतापौ–भयोपतापौ यस्मिन्नेतादृशं यद् ध्यानं–शुक्लाख्यं तेन कान्ताः–मनोज्ञाः । पुनः किं० ? सती–शोभनाऽऽशा येषां, सताम्–उत्तमानां आशा वा येषु ते, सर्वस्यैवोत्तमकार्यस्य परमार्थतस्तीर्थकरोद्देश्यफलत्वादिति भावः । ते के ? ये 'जगति' विश्वे 'शिवसुखं' निर्वाणशर्म 'अदुः' दत्तवन्तः, किं कुर्वन्तः ? 'कान्तिभिः' किरणैः 'सदा' निरन्तरम् 'आशाः' दिशः 'भासयन्तः' शोभयन्तः । पुनः किं० ? इताः–गताः मदः–जात्यादिस्मयो रतं–निधुवनम् अपध्यानं च–आर्त्तरौद्रद्वन्द्वं कान्ता–वामाक्षी च येभ्यस्ते तथा ॥ २ ॥

मुनिततिरपठद् यं वर्जयन्ती हतोघ–
तमसमऽहितदाऽत्रासाऽऽधिमाऽऽनन्दिताऽरम् ।
समयमिह भजाऽऽप्तेनोक्तमुच्चैर्दधानं
तमऽसम ! हितदात्रा साधिमानं दितारम् ॥ ३ ॥

---

१ "भावेन तारम्–उच्चस्तरम्" इति यशो–विजयगणिकृताऽप्ययपच्चूर्णम् ॥

मुनिततिरिति ॥ हे 'असम !' निरुपमपुरुष ! त्वम् 'इह' जगति तं 'समयं' सिद्धान्तं 'भज' अङ्गीकुरु । किं कुर्वन्तम् ? उच्चैः 'साधिमानं' चारुभावं 'दधानं' बिभ्रत्, किम्भूतम् ? 'आप्तेन' भगवता 'उक्तं' भाषितम्, कीदृशेनाऽऽप्तेन ? 'हितदात्रा' पथ्यप्रदायिना । पुनः किम्भूतम् ? *दितं-* खण्डितम् आरम्-अरिसमूहो येन * तम् । * तं कम् ? यं 'मुनिततिः' यतिश्रेणिः 'अपठत्' अभाणीत्, किं कुर्वती ? 'आधिं' मानसीं व्यथां 'वर्जयन्ती' त्यजन्ती, नहि सति आधिलेशेऽपि श्रुतपाठो प्रभवति कार्याय इत्येवमुक्तम् । यं किम्भूतम् ? हतं-क्षपितम् उद्यद्-उत्पद्यत् तमः-पापं येन तम् । मुनिततिः किम्भूता ? अहितम्-अपथ्यं भावारिं वा द्यति-खण्डयति या सा । पुनः किम्भूता ? 'अत्रासा' नास्ति त्रासो यस्याः सा । पुनः किं० ? 'अरम्' अत्यर्थम् 'आनन्दिता' संतुष्टा ॥ ३ ॥

अवतु करिणि याता साऽर्हतां प्रौढभक्त्या,
मुदितमकलितापाया महामानसी माम् ।
वहति युधि निहत्याऽनीकचक्रं रिपूणा-
मुदितमकलितापा या महामानसीभाम् ॥ ४ ॥

इति श्रीसुपार्श्वजिनस्तुतिः ॥ ७ ॥

अवत्विति ॥ सा महामानसी माम् 'अवतु' रक्षतु । किम्भूता ? 'करिणि' हस्तिनि 'याता' प्राप्ता । पुनः किम्भूता ? अकलितः- अप्राप्तः अपायः-विघ्नमपचष्टलाभो (?) वा यया सा । मां किम्भूतम् ? 'अर्हतां' तीर्थकृतां 'प्रौढभक्त्या' तीव्रभावनया 'मुदितं' प्राप्तहर्षम् । सा का ? * या * 'युधि' संग्रामे 'उदितम्' उच्छिन्नं (उत्थितं) 'रिपूणां' शत्रू-

णाम् 'अनीकचक्रं' सेनासमूहं 'निहत्य' हत्वा..........हीनत्वात् 'महामानसीमाम्' अवलेपनपराकाष्टां 'वहति' बिभर्त्ति, सीमाशब्द आकारान्तोऽप्यस्ति । 'निहत्य' इत्यनेन फलोक्तिः, फलप्राप्तिपूर्वमाहं ....वैफल्यं निरस्तम् । या किम्भूता ? 'अकलितापा' रणा-नुशयरहितत्वात् *संग्रामोपतापरहिता* कलियुगकृततापरहिता वा ॥

॥ इति श्रीसुपार्श्वजिनस्तुतिविवरणम् ॥ ७ ॥

तुभ्यं चन्द्रप्रभ ! भवभयाद् रक्षते लेखलेखा-
नन्तव्याऽपापमदमहते ! सन् ! नमोऽहासमाय ! ।
श्रेयःश्रेणीं भृशमऽसुमतां तन्वते ध्वस्तकामा-
नन्तव्यापाऽपमद ! महते सन्नमोहाऽसमाय ॥ १ ॥

तुभ्यमिति ॥ हे 'सन् !' उत्तम !, हे 'लेखलेखानन्तव्य !' देवश्रेणीप्रणमनीय !, हे 'अदमहते !' दमस्य—इन्द्रियजयस्य हतिः—अपकर्षो दमहतिः, नास्ति सा यस्य तस्याऽऽमन्त्रणम्, हे 'अहास-माय !' हासः—हास्यमोहजनित उत्फुल्लगल्लादिविकारव्यङ्ग्यः परिणामो माया च—वञ्चना हासमाये न स्तः यस्य तस्याऽऽमन्त्रणम्, हे 'ध्वस्त-कामानन्तव्याप !' ध्वस्तः—निरस्तः कामस्य—कन्दर्पस्य अनन्तः—अपर्यवसितो व्यापः—व्यासक्तता येन तस्यामन्त्रणम्, हे 'अपमद !' अपगतो मदः—जात्याद्यवलेपो यस्मात् तस्यामन्त्रणम्, हे 'सन्न-मोह !' सन्नः—निस्तीर्णो मोहः—गोबलीवर्दन्यायात् हास्यादि-भिन्नमोहनीयप्रकृतिजनितपरिणामसमूहो अज्ञानं वा यस्य तस्याम-न्त्रणम्, हे चन्द्रप्रभ ! तुभ्यं नमः, 'अस्तु' इति शेषः । तुभ्यं किं कुर्वते ? 'भवभयात्' संसारसाध्वसाद् 'अपापं' पापरहितं पुरुषं रक्षते,

न च 'तस्य किं रक्षणे पौरुषम् ? स्वत एव तेन संसारत्यागात्' इति शङ्कनीयम्, त्यक्तसंसाराणामपि परिणामानपकर्षस्य हृदयस्थितभगवन्माहात्म्याधीनत्वाद् इत्थमेवास्य क्षेमकारित्वं युक्तमित्यवसेयम् । पुनः किं० ? 'भृशम्' अत्यर्थम् 'असुमतां' प्राणिनां 'श्रेयःश्रेणीं' कल्याणमालां 'तन्वते' कुर्वते । पुनः किंभूताय ? 'महते' अनुपकृतोपकारित्वेनोत्तमपुरुषप्रकृतिशालिने, एवं च सहजदानप्रियत्वादिगुणशालित्वरूपसत्त्वात् महत्त्वं भिन्नमिति पौनरुक्त्यं परिहृतं द्रष्टव्यम् । पुनः किम्भूताय ? 'असमाय' निरुपमाय ॥ १ ॥

श्रेयो दत्तां चरणविलुठन्नम्रभूपालभूयो-
मुक्तामालाऽसमदमहिता बोधिदानाऽमऽहीना ।
मोहापोहाद्युदितपरमज्योतिषां कृत्स्नदोषै-
र्मुक्तामालाऽसमदमहिता वोऽधिदानाऽऽमहीना॥२॥

श्रेय इति ॥ 'बोधिदानां' तीर्थकृतां 'माला' श्रेणिः 'वः' युष्माकं 'श्रेयः' कल्याणं दत्ताम् । किम्भूता ? चरणयोः-पादयोः विलुठन्ती नम्रभूपालानां-नमनशीलनृपतीनां भूयसी-बह्वी मुक्तामाला-मुक्ताफलश्रेणिर्यस्याः सा । पुनः किं० ? असमदमानां-निरुपमेन्द्रियजयानां पुंसां हिता-हितकारणी, * अकाराप्रश्लेषात् * समे-सकले असमे-अपरिच्छेदे (?) वा दमहिते यस्याः सा । पुनः किं ? अहीना नास्ति हीनं-न्यूनं यस्याः सा, क्षीणलाभान्तरायत्वेन कृतकृत्यत्वात् । पुनः किं० ? कृत्स्नदोषैः-घातिकर्मजनितैरन्त * रङ्ग * रागादिभिः सकलैर्जीवगुणप्रतिपन्थिपरिणामैः मुक्ता ।

पुनः किं० ? असमदैः–असाहङ्कारैः महिता–पूजिता भराहृदा (?) मदराहित्यविधुरा महिता–उत्सविता यस्याः । सति वा भगवतः पूजासत्कारप्राचुर्योऽपि तं उपबृंहणेऽमनेन (?) मदलेशस्याप्यभावात्, तथाऽऽचारे–"णो पूजासक्कारे उववूहित्ता भवइ" इति । पुनः किं० ? अधि–अधिकं सकलभुवनवर्तिदानशोभातिशायि दानं–सांवत्सरिकादि अभयादि वा यस्याः सा । पुनः किं० ? 'आमहीना' रोगरहिता । बोधिदानां किम्भूतानाम् ? 'मोहापोहात्' मोहनीयकर्मक्षयात् उदितं–उत्पन्नं परमं–प्रकृष्टं ज्योतिः–ज्ञानं केवलाख्यं येषां तेषाम् ॥ २ ॥

रङ्गद्भङ्गः स्फुटनयमयस्तीर्थनाथेन चूला–
मालापीनः शमदमवताऽसङ्गतोपायहृद्यः ।
सिद्धान्तोऽयं भवतु गदितः श्रेयसे भक्तिभाजा–
माऽऽलापी नः शमदमवता सङ्गतोऽपायहृद्यः ॥३॥

रङ्गद्भङ्ग इति ॥ 'तीर्थनाथेन' अर्हता 'गदितः' उक्तः 'अयं' सिद्धान्तः 'भक्तिभाजां' सेवापराणां 'नः' अस्माकं 'श्रेयसे' कल्याणाय भवतु । किम्भूतः ? रङ्गन्तः–परस्परानुप्रवेशेन वहन्तो भङ्गाः–वचनविकल्पा यत्र सः । पुनः किं० ? स्फुटाः–प्रकटा ये नयाः–नैगमादयः तन्मयः–प्रचुरतद्वान् । पुनः किं० ? चूलामालया–चूलिकाश्रेण्या पीनः–पुष्टः । पुनः किं० ? असङ्गतायाः–निरसङ्गताया य उपायः–रत्नत्रयसाम्राज्यं तेन हृद्यः–मनोहरः । पुनः किं० ? 'आलापी' आलापकवान्, "भक्तिभाजाम्" इति सानुस्वारपाठे वा मां–लक्ष्मीं लापयति–आकारयतीत्येवंशील इति व्याख्ये-

यम् । पुनः किं० ? 'सङ्गतः' प्रसङ्गादिसङ्गतिमान् । अयं कः ? यः 'अपायहृत्' विघ्नहर्त्ता, अस्तीति शेषः । वीर्थनाथेन किम्भूतेन ? शमः–क्षान्तिः दमश्च–पञ्चेन्द्रियजयः तौ विद्येते यस्याऽसौ तद्वान् तेन । किं कुर्वता ? 'अवता' रक्षता, कम् ? 'शमदं' क्षान्तिदायिनं पुमांसम् ॥ ३ ॥

सा त्वं वज्राङ्कुशि ! जय मुनौ भूरिभक्तिः सुसिद्ध–
प्राणायामेऽशुचि मतिमऽतापाऽऽपदन्ताऽबलानाम् ।
दत्से वज्राङ्कुशभृदऽनिशं दर्पहन्त्री प्रदत्त–
प्राणा या मे शुचिमतिमता पापदन्तावलानाम् ॥ ४ ॥

इति श्रीचन्द्रप्रभजिनस्तुतिः ॥ ८ ॥

सा त्वमिति ॥ हे वज्राङ्कुशि ! सा त्वं जय । किम्भूता त्वम् ? 'भूरिभक्तिः' विपुलभक्तिमती । क ? 'मुनौ' साधौ, कीदृशे ? सुष्ठु–अतिशयेन सिद्धः–जातपरिकर्मा प्राणायामः–विधिवच्छ्वासप्रश्वासरोधव्यापारो यस्य तस्मिन्, पुनः किं० ? 'अशुचि' नास्ति शुक्–शोको यस्य तस्मिन् । सा का ? या त्वं 'मे' मम (मह्यं) 'मतिं' बुद्धिं दत्से । त्वं किं० ? 'अतापा' तापरहिता । पुनः किम्भूता ? 'आ*पदन्ता' आपदाम् अन्तः–नाशो यस्याः सकाशात् । * पुनः किं० ? 'प्रदत्तप्राणा' प्रदत्तबला, केषाम् ? 'अबलानां' बलरहितानां पुंसाम् । पुनः किं० ? 'अनिशं–निरन्तरं 'वज्राङ्कुशभृत्' कुलिशाङ्कुशधारिणी । पुनः किं० ? 'दर्पहन्त्री' गर्वनाशिनी, केषाम् ? पापा एव ये दन्तावलाः–हस्तिनस्तेषाम्, अत एव "वज्राङ्कुशभृत्"

इति सहेतुकं विशेषणम् । पुनः किं० ? शुचिमतीनां–निर्मलबुद्धीनां मता–आराध्यत्वेन अभीष्टा ॥ ४ ॥

॥ इति श्रीचन्द्रप्रभस्तुतिविवरणम् ॥ ८ ॥

यस्याऽतनोद् देवततिर्महं सु–
प्रभाऽवतारे शुचिमन्दरागे ।
इहाऽस्तु भक्तिः सुविधौ दृढा मे,
प्रभावतारेऽशुचि मन्दरागे ॥ १ ॥

यस्याऽतनोदिति ॥ 'इह' अस्मिन् 'सुविधौ' सुविधिनाम्नि 'मे' मम 'दृढा' निबिडा भक्तिरस्तु । किम्भूते ? प्रभावेन–अनुभावेन तारे, प्रभावस्य भावः प्रभावता तां रातीति प्रभावतारः चित्ताध्यवसायो येषा ते, प्रभावात् तारयति–संसारसागरपारं प्रापयति यः तस्मिन्निति वा। पुनः किं० ? 'अशुचि' शोकरहिते। पुनः किं० ? 'मन्दरागे'.........स्वभाव यत् एव दुरुदर्कविषयानुबन्धः संदन्यः विधुरे (?)। इह क ? यस्य 'अवतारे' प्रयवि (प्रभवति) 'देवततिः' सुरश्रेणिः शुचिः–निर्मलो यो मन्दरः–मेरुः स एव अगः–पर्वतः तत्र 'महं' उत्सवम् 'अतनोत्' अकरोत् । किम्भूता देवततिः ? सु–शोभना प्रभा–कान्तिर्यस्याः सा ॥ १ ॥

अभूत् प्रकृष्टोपशमेषु येषु,
न मोहसेना जनितापदेभ्यः ।
युष्मभ्यमाऽऽप्ताः ! प्रचितोदयेभ्यो,
नमोऽर्हसेनाः ! जनितापदेभ्यः ॥ २ ॥

अभूदिति ॥ भोः 'अहसेनाः !' नास्ति हसः–हास्यमेषामिति अहसाः–केवलिनः, उक्तं च–"केवली णं भंते ! हसेज्ज वा उस्सुआएज्ज वा ? गो० ! णो इणट्ठे समट्ठे" इति, तेषामिनाः–स्वामिनः, कृतकृत्यानामपि तेषां व्यवहारानुरोधेन प्रणमनीयत्वात्, तेषामामन्त्रणम् । भोः 'आप्ताः !' तीर्थकृतः ! एभ्यो युष्मभ्यं नमः, 'अस्तु' इति शेषः । युष्मभ्यं किम्भूतेभ्यः ? प्रथितः–प्रसिद्धः उदयः–अतिशयो ज्ञानं वा येषां तेभ्यः । पुनः किं० ? जनितापम्–आध्यात्मिकादिभेदभिन्नं संसारतापं घ्नन्ति–खण्डयन्ति तेभ्यः । एभ्यः केभ्यः ? येषु 'मोहसेना'........वमहामोहराजचमूः 'जनितापत्' कृतविपद् नाऽभूत् । किम्भूतेषु येषु ? प्रकृष्टः–अतिशयित उपशमः–तितिक्षापयति (?) [येषु तेषु] ॥ २ ॥

वाणी रहस्यं दधती प्रदत्त–
महोदयाऽवद्भिरनीतिहारि ।
जीयाज्जिनेन्द्रैर्गदिता त्रिलोकी–
महो ! दयावद्भिरनीति हारि ॥ ३ ॥

वाणीति ॥ 'जिनेन्द्रैः' तीर्थकरैः 'गदिता' उक्ता 'वाणी' प्रवचनात्मिका भाषाद्रव्यसंहतिर्जीयात् । जिनेन्द्रैः किं कुर्वद्भिः ? 'अहो' इत्याश्चर्ये 'त्रिलोकीं' त्रिजगतीम् 'अवद्भिः' रक्षद्भिः । पुनः किं० 'दयावद्भिः' करुणाशालिभिः । वाणी किं कुर्वती ? 'रहस्यं' सकलशास्त्रोपनिषद्भूतमर्थं 'दधती' भूयो भूयः कर्तव्यत्वप्रतिपादनेन पुष्णती । रहस्यं किम्भूतम् ? अनीतिम्–अन्यायं हरतीत्येवंशीलम् ।

पुनः किं० ? 'अनीति' नास्ति ईतिर्यस्मात् तत् । पुनः किं० ? 'हारि' मनोहारि । वाणी किंमू० ? प्रवृत्तो महोदयः–मोक्षो यया सा ॥ ३ ॥

जगद्गतिर्विद्रुमकान्तकान्तिः,
करोऽतुलाभं शमऽदम्भवत्याः ।
ददन्नतानां ज्वलनायुधे ! नः,
करोतु लाभं शमदं भवत्याः ॥ ४ ॥

॥ इति श्रीसुविधिजिनस्तुतिः ॥ ९ ॥

जगद्गतिरिति ॥ हे ज्वलनायुधे ! 'भवत्याः' तव 'करः' हस्तः 'नः' अस्माकं 'लाभं' कल्याणप्राप्तिं करोतु । लाभं किम्भूतम् ? अतुला–निरुपमा आभा–शोभा यस्मात् तम् । करः किम्भूतः ? जगतां गतिः–आधारः । पुनः किं० ? विद्रुमवत्–प्रवालवत् पाटलत्वेन कान्ता–मनोज्ञा कान्तिर्यस्य सः । किं कुर्वन् ? 'नतानां' कृतनतीनां पुरुषाणां 'शं' सुखं ददत्, किं० शम् ? 'शमदम्' उपशमप्रदम्, एतेन कुशलानुबन्धित्वमावेदितम् । [भवत्याः] कथम्भूतायाः ? 'अदम्भवत्याः' अकपटवत्याः ॥ ४ ॥

॥ इति श्रीसुविधिजिनस्तुतिविवरणम् ॥ ९ ॥

जयति शीतलतीर्थपतिर्जने,
वसु मती तरणाय महोदधौ ।

१–२ यद्यप्यत्र मूल–टीका–अवचूरिपुस्तकेषु—"आद्योम्बरो विद्रुम०" इत्येव पाठ उपलभ्यते तथाप्यस्माभिष्टीकानुसारेणोभयत्रापि "जगद्गतिर्विद्रुम०" इति पाठ आदृतः ॥

ददति यत्र भवे चरणग्रहे,
　　वसुमतीतरणाय महो दधौ ॥ १ ॥

जयतीति ॥ स इत्यस्य गम्यमानत्वात् सः 'शीवलतीर्थपतिः' शीतलनामा भगवान् 'जयति' सर्वोपद्रवनिवर्त्तते (सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते,) परत्र सर्वेन च (?) नमस्कारताऽऽक्षिप्यते । किम्भूतः ? 'मती' मतम्—इष्टं कृतकृत्यत्वादस्यास्तीति मती । स कः ? 'यत्र' यस्मिन् भवे महोदधौ इति असत्सप्तप्ठीयम् (?) तस्यो........ ....दायमहोदधेरित्यर्थः, 'तरणाय' पारगमनाय तदर्थमिति ....चरणग्रहे.........................'महः' तेजो दधौ, भवति हि भगवति हि.............................. ललितशोकैर्लोकैः दीप्तः क्रमदाऽनन्तरमभिहततमिस्रप्रसरवत्नित्यालोक एव भूलोक इति ति किम् ?..............................तस्य, किम्भूताय ? 'इतरणाय' गतसङ्ग्रामाय ॥ १ ॥

अवचूरिः—'वसुमति' धनवति, ददति इति अविवक्षितकर्मे, 'मती' मतवान्, 'वसु' धनम्, तरणाय, 'इतरणाय' गतसङ्ग्रामाय, भवे महो दधौ इति व्यस्तरूपकम् ॥ १ ॥

वितर शासनभक्तिमतां जिना—
　　वलि ! तमोहरणे ! सुरसम्पदम् ।
अधरयच्छित्रनाम महात्मनां,
　　वलितमोहरणे ! सुरसं पदम् ॥ २ ॥

वितरेति ॥ हे 'जिनावलि !' जिनश्रेणि ! हे 'तमोहरणे !' पापहारिणि ! हे 'वलितमोहरणे !' वलितौ—उद्भ्रान्तौ मोहरणौ—

अज्ञानसङ्ग्रामौ यया तस्या आमन्त्रणम्, त्वं 'शासनभक्तिमतां' जिनप्रवचनरसिकहृदयानां महात्मनां 'शिवनाम' मोक्षाह्वयं पदं 'वितर' प्रयच्छ। पदं किं० ? 'सुरसं' सु–शोभनो रसः–शान्ताख्यो यत्र तत्, यद्यपि विभाव्याचेभिव्यङ्ग्यचिद्विवर्त्तरूपो रसो मोक्षेऽनुपपन्नः तथापि वास्तवानन्दरूपस्य तस्य तत्र नानुपपत्तिरिति ध्येयम्। किं कुर्वत् ? 'सुरसम्पदं' देवविभूतिम् 'अधरयत्' तिरस्कुर्वत्, मोक्षसुखस्य त्रैकालिकसकलसांसारिकसुखेभ्योऽप्यनन्तगुणत्वात् सुखमिश्रितत्वेन प्रतिबन्धिसम्बन्धविधुरत्वात् औत्सुक्यविनिवृत्त्या स्वभावापरावृत्तेश्चेति विभावनीयम् ॥ २ ॥

भगवतोऽभ्युदितं विनमाऽऽगमं,
जन ! यतः परमापदमाऽऽदरात् ।
इह निहत्य शिवं जगदुन्नतिं,
जनयतः परमाऽऽप दमादरात् ॥ ३ ॥

भगवत इति ॥ हे जन ! त्वं यच्छब्दाध्याहारात् ततः 'भगवतः' तीर्थङ्करात् 'अभ्युदितं' साक्षादर्थतया परम्परया सूत्रतया भावात् स्वभावं * 'आगमं' * सिद्धान्तं 'विनम' विशेषेण नमस्कुरु । [कथम् ? 'आ] दरात्' श्रद्धापूर्वादभियोगात् । यतः कुतः ? 'यतः' यस्मात् 'जगत्' "तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेशः" इति न्यायात् जगद्वर्त्ती लोकः *'इह' अत्रैव लोके *'परमापदं' कर्मोदयजनितामुत्कृष्टव्याबाधां निहत्य 'परम्' उत्कृष्टं 'शिवं' 'आप' प्राप, परमा आपद् यस्मात्

१ "यद्यपि मोक्षाभिव्यक्त–" इति पाठ. स्यात् ॥

तादृशं परं-कामादिभावशत्रुं निहत्येति वा व्याख्येयम्, परा-प्रकृष्टा या मा-लक्ष्मीः तस्याः पद[मिति वा व्याख्येयम् । 'दमा]दरात्' दमेन-इन्द्रियजयेन अदरः-निर्भयोऽविशब्दरसः (?) तस्मात् । किं कुर्वतः ? 'उन्नतिं' तीर्थप्रभावनां 'जनयतः' विदधतः ॥ ३ ॥

स्तवरवैस्त्रिदशैस्तव सन्ततं,
न परमऽच्छविमानविलासिता ।
न घनशस्त्रकलाऽप्यरिदारिणी,
न परमच्छवि ! मानवि ! लासिता ॥ ४ ॥

॥ इति श्रीशीतलजिनस्तुतिः ॥ १० ॥

स्तवरवैरिति ॥ हे 'परमच्छवि !' परमा-उत्कृष्टा छविः-कान्तिः यस्याः तस्या आमन्त्रणम्, हे मानवि ! 'सन्ततं' निरन्तरं 'त्रिदशैः' देवैः *तव* 'स्तवरवैः' स्तोत्रध्वनिभिः कृत्वा 'अच्छविमानविलासिता' निर्मलविमानविलासशालिता न 'परं' केवलं 'न लासिता' न स्फातिं प्रापिता किन्तु 'घनशस्त्रकलाऽपि' निबिडशस्त्राभ्यासनिपुणताऽपि न न लासिता, द्वयोर्नञोः प्रकृतार्थगमकत्वात् लासितैवेत्यर्थः । किम्भूता ? 'अरिदारिणी' शत्रुविदारणनिबन्धनम्, एवं श्लोकगुणद्वयेनाऽऽराध्यत्वं व्यज्यते ॥ ४ ॥

॥ इति श्रीशीतलजिनस्तुतिविवरणम् ॥ १० ॥

जिनवर ! भजन् श्रेयांस ! त्वां मताम्बुहृतोदय-
स्त्वदव ! नतोऽहं तापातङ्कमुक् ! महागम ! ।
गतभववनभ्रान्तिश्रान्तिः फलेग्रहिरुल्लस-
त्त्वदवनतो हन्ताऽपातं कमुकमहागम ! ॥ १ ॥

जिनवरेति ॥ हे 'व्रताम्बुहृतोदयद्भवदव !' व्रतमेव—अहिंसादि अम्बु—जलं येन हृतः—विध्यापित उदयन्—प्रवर्द्धमानो भवदवः—संसारवह्निर्येन तस्यामन्त्रणम्, हे 'तापातङ्कमुक्त !' तापः—अनुशय आतङ्कश्च—भयं ताभ्यां मुक्तः—त्यक्तो यस्तस्यामन्त्रणम्, हे 'महागम !' महानाम्—उत्सवानाम् आगमः—पुण्यप्राग्भाराकृष्टतया स्वत उपनमनं यस्य तस्यामन्त्रणम्, हे 'उक्तमहागम !' उक्तः—प्रतिपादितो महान्—सकलतत्त्वातिशायी आगमः—सिद्धान्तो येन तस्यामन्त्रणम्, हे 'जिनवर !' केवलिश्रेष्ठ ! हे श्रेयांस ! अहम् 'त्वत्सद्वचनतः' करुणातिशयभ्राजमानत्वद्वाणतः गता भववनभ्रान्तिश्रान्तिः—संसारकान्तारभ्रमणश्रमो यस्यैतादृशः सन् 'अपातम्'अप्रतिपाति 'कं' सुखं 'भजन्' आश्रयन् 'हन्त' इति कोमलामन्त्रणे 'फलेग्रहिः' फलवान् स्याम्। किम्भूतोऽहम्? 'नतः' कृतप्रणामः ॥१॥

जिनसमुदयं विश्वाधारं हरन्तमिहाङ्गिनां,
भवमऽदरदं रुच्या कान्तं महामितमोहरम्।
विनयमधिकं कारं कारं कुलादिविशिष्टता—
भवमदरदं रुच्याऽकान्तं महामि तमोहरम् ॥२॥

जिनसमुदयमिति ॥ अहम् 'अधिकम्' अतिशयितम् अधिकं कं—सुखं यस्मादिति वा 'विनयं' कायेन मनसा वाचा च त्रिलक्षणं 'कारं कारं' कृत्वा कृत्वा 'जिनसमुदयं' तीर्थकरसमूहं 'रुच्या' श्रद्धया 'महामि' भावस्तवेन पूजयामि। किम्भूतम्? विश्वस्य—जगत आधार—दुर्गतिपतनप्रतिषन्थिधर्मोपदेशकत्वात् त्राणभूतम्। किं कुर्वन्तम्? 'इह' जगति 'अङ्गिनां' प्राणिनां 'भवं' संसारं, 'हरन्तम्'

अपनयन्तम् । पुनः किं० ? 'अदरदम्' अभयदम्, पुनः किं० ? 'कान्तं' मनोहरम्, कया ? 'रुच्या' कान्त्या । भवं किम्भूतम् ? महैः–पाणिग्रहाद्युत्सवैः अमितः–अपरिमितो यो मोहः–मोहनीयं कर्म संसारभ्रमणहेतुभूतमज्ञानं वा तं राति–ददाति यस्तम्, महैः–उत्सवैः अमिता–अपरिमिता मा–लक्ष्मीर्येभ्यस्तादृशा ये ऊहाः–वितर्काः तान् ददातीति जिनसमुदयस्यैव वा विशेषणं व्याख्येयमेतत् । पुनः किं० ? कुलस्य आदौ कुलादौ–जातिलाभे, कुलम् आदि येषां तानि त[द्गुणसं]विज्ञानबहुव्रीहिणा कुलैश्वर्यबलरूपतपःश्रुतानि, ततः कुलादौ च कुलादीनि चेत्येकशेषात् कुलादीनां–जात्यादीनां या विशिष्टता–उत्कर्षः तद्भवः–तदुत्पन्नो यो मदः–अहङ्कारस्तं दरति–अपनयति यस्तम् । पुनः किं० ? अकस्य–दुःखस्य अन्तो यस्मात् तम्, पुनः किं० ? 'तमोहरं' पापापनयनकरम् ॥ २ ॥

शुचिगमपदो भङ्गैः पूर्णो हरन् कुमतापहो–
ऽनवरतमऽलोभावस्थामाऽऽश्रयन्नऽयशोऽभितः ।
जन ! तव मनो यायाच्छायामयः समयो गल–
न्नवरतमलो भावस्थामाश्रयं नयशोभितः ॥ ३ ॥

शुचीति ॥ हे 'आश्रयन्' भजन्, काम् ? 'अलोभावस्थां' सन्तोषदशाम्, एतेनाधिकारित्वं सूचितम्, अधृतिमतोऽनधिकारित्वात्; हे जन ! 'समयः' सिद्धान्तः तव मनोऽनवरतं 'यायात्' गच्छतु । मनः किम्भूतम् ? 'भावस्थामाश्रयं' श्रद्धाबलमन्दिरम् । समयः किम्भूतः ? शुचीनि–पवित्राणि गमपदानि–सदृशपाठपदानि यत्र सः । पुनः किं० ? 'भङ्गैः' विकल्पविशेषैः 'पूर्णः' भृतः ।

पुनः किं कुर्वन्? 'अभितः' समन्ताद् 'अयशः' अकीर्तिं 'हरन्' अपनयन्। पुनः किं०? कुमतमेव*बौद्धादिदर्शनम् अपहन्तीति कुमतापहः। पुनः किं०? 'छायामयः'................। पुनः किं०? गलन्–शिथिलीभवन् नवरतस्य–अभिनवनिधुवनस्य मलः–मलमिव*भावमालिन्यहेतुत्वान्मलो यस्मात् सः, अस्ति हि समयाऽभ्यासस्य पुंवेदोदयनिरोधहेतुत्वेन तथात्वम्। पुनः किं०? नयैः–नैगमादिभिः 'शोभितः' भ्राजितः ॥ ३ ॥

सुकृतपटुतां विप्रोच्छित्त्या तवारिहतिक्षमा–
ऽपविफलकरा द्युत्याऽगेहाऽऽघनाघनराजिता।
वितरतु महाकाली घण्टाक्षसन्ततिविस्फुर–
त्पविफलकरा द्युत्यागेहा घनाघनराजिता ॥ ४ ॥

॥ इति श्रीश्रेयांसजिनस्तुतिः ॥ ११ ॥

सुकृतेति ॥ हे 'अगेह!' गेहरहित! महाकाली 'विप्रोच्छित्त्या' पापापनयनेन तव 'सुकृतपटुतां' पुण्यप्रभुत्वं 'वितरतु' ददातु। किम्भूता? अरीणां–वैरिणां हतिः–नाशः तत्र क्षमा–समर्था, एतेन परार्थसम्पत्तिवाहिका स्वार्थसम्पटुत्वा। पुनः किं०? अपगतं विफलं–मोघं कर्म यस्याः सा ईदृशी सती कं–सुखं रातीति अपविफलकरा, अप–गतो विफलः–मोघः करः–दण्डो यस्याः सेति वा। पुनः किं०? 'द्युत्या' कान्त्या*आ–समन्तात्* 'घनाघनराजिता' मेघवत् शोभिता। पुनः किं०? घण्टा च अक्षसन्ततिश्च विस्फुरती–शोभमाने पविफले च घण्टाक्षसन्ततिविस्फुरत्पविफलानि, तानि करे–हस्ते यस्याः सा। *पुनः किं०? वि-

वि-स्वर्लोके स्वागेहा-दानेच्छा यस्याः सा, नृभवस्पृहयालुतया द्योः स्वागेहा वा यस्याः सा* । पुनः किं० ? घनाघा-निविडपापा ये नराः-मनुजास्तैरजिता तेषामप्रत्यक्षेति ॥ ४ ॥

॥ इति श्रीश्रेयांसजिनस्तुतिविवरणम् ॥ ११ ॥

पद्मोल्लासे पटुत्वं दधदधिकरुचिर्वासुपूज्यार्कतुल्यो
लोकं सद्धीरपाताशमरुचिरपवित्रासहारिप्रभाऽव ।
लुम्पन् स्वैर्गोविलासैर्जगति घनतमो दुर्नयध्वस्ततत्त्वा-
लोकं सद्धीर ! पाता शमरुचिरपवित्रास ! हारिप्रभाव ! ॥

पद्मोल्लास इति ॥ हे 'अरुचिरपवित्रासहारिप्रभ !' रुचिराश्च पवित्राश्च रुचिरपवित्राः-स्वमतपवित्रान्तःकरणाः श्रमणाः तान् न सहन्त इति तदसहाः ते च ते अरयः-बौद्धादयस्तेषां प्रभा-कान्तिः सा नास्ति यस्मात्तस्यामन्त्रणम्; प्रकृष्टा भा यस्याऽसौ प्रभः, न सन्ति रुचिरपवित्रासहा अरयो यस्य सः अरुचिरपवित्रासहारिः, अरुचिरपवित्रासहारिश्चासौ प्रभश्चेति कर्मधारयगर्भे वा इदमामन्त्रणम्; हे 'सद्धीर !' सतां मध्ये धीरः सँश्चासौ धीरश्चेति वा तस्यामन्त्रणम्, हे 'अपवित्रास !' अप-गतो वित्रासः-भयं यस्मात् तस्यामन्त्रणम्, हे 'हारिप्रभाव !' मनोहरानुभाव ! हे वासुपूज्य ! त्वं 'लोकं' भव्यप्राणिनम् 'अव' रक्ष । त्वं किं० ? 'अर्कतुल्यः' सूर्यसदृशः, किं कुर्वन् ? 'पद्मोल्लासे' लक्ष्मीविलासे 'पटुत्वं' निपुणत्वं दधत्, अर्कोऽपि च पद्मोल्लासे-कमलविकासे पटुत्वं बिभर्ति । *पुनः* किम्भूतः ? अधिका-जगदतिशायिनी रुचिः-कान्तिर्यस्य अधिका-अधिकसुखा रुचिः-सम्यग्दृष्टिर्वा यस्य स तथा,

*पुनः*किं कुर्वन्? 'अभितः' समन्ताद् 'अयशः' अकीर्ति 'हरन्' अपनयन्। पुनः किं०? कुमतमेव*बौद्धादिदर्शनम् अपहन्तीति कुमतापहः। पुनः किं०? 'छायामयः'.................। पुनः किं०? गलन्–शिथिलीभवन् नवरवस्य–अभिनवनिधुवनस्य मलः–मलमिव*भावमालिन्यहेतुत्वान्मलो यस्मात् सः, अस्ति हि समयाभ्यासस्य पुंवेदोदयनिरोधहेतुत्वेन तथात्वम्। पुनः किं०? नयैः–नैगमादिभिः 'शोभितः' भ्राजितः ॥ ३ ॥

सुकृतपटुतां विप्नोच्छित्त्या तवारिहतिक्षमा–
ऽपविफलकरा द्युत्याऽगेहाऽऽघनाघनराजिता।
वितरतु महाकाली घण्टाक्षसन्ततिविस्फुर–
त्पविफलकरा द्युत्यागेहा घनाघनराजिता ॥ ४ ॥

॥ इति श्रीश्रेयांसजिनस्तुतिः ॥ ११ ॥

सुकृतेति ॥ हे 'अगेह!' गेहरहित! महाकाली 'विप्नोच्छित्त्या' पापापनयनेन तव 'सुकृतपटुतां' पुण्यप्रभुत्वं 'वितरतु' ददातु। किम्भूता? अरीणां–वैरिणां हतिः–नाशः तत्र क्षमा–समर्था, एतेन परार्थसम्पत्तिवाहिका स्वार्थसम्पदुक्ता। पुनः किं०? अपगतं विफलं–मोघं कर्म यस्याः सा ईदृशी सती कं–सुखं रातीति अपविफलकरा, अप–गतो विफलः–मोघः करः–दण्डो यस्याः सेति वा। पुनः किं०? 'द्युत्या' कान्त्या*आ–समन्तात् * 'घनाघनराजिता' मेघवत् शोभिता। पुनः किं०? घण्टा च अक्षसन्ततिश्च विस्फुरती–शोभमाने पविफले च घण्टाक्षसन्ततिविस्फुरत्पविफलानि, तानि करे–हस्ते यस्याः सा। *पुनः किं०? द्यु-

वि-स्वर्लोके त्यागेहा-दानेच्छा यस्याः सा, नृभवस्पृहयालुतया द्योः त्यागेहा वा यस्याः सा* । पुनः किं० ? घनाघा-निबिडपापा ये नराः-मनुजास्तैरजिता तेषामप्रत्यक्षेति ॥ ४ ॥

॥ इति श्रीश्रेयांसजिनस्तुतिविवरणम् ॥ ११ ॥

पद्मोल्लासे पटुत्वं दधदधिकरुचिर्वासुपूज्याऽर्कतुल्यो
लोकं सद्धीरपाताशमरुचिरपवित्रासहारिप्रभाऽव ।
लुम्पन् स्वैर्गोविलासैर्जगति घनतमो दुर्नयध्वस्ततत्त्वा-
लोकं सद्धीर ! पाता शमरुचिरपवित्रास ! हारिप्रभाव ! ॥

पद्मोल्लास इति ॥ हे 'अरुचिरपवित्रासहारिप्रभ !' रुचिराश्च पवित्राश्च रुचिरपवित्राः-स्वमतपवित्रान्तःकरणाः श्रमणाः तान् न सहन्त इति तदसहाः ते च ते अरयः-बौद्धादयस्तेषां प्रभा-कान्तिः सा नास्ति यस्मात्तस्यामन्त्रणम्; प्रकृष्टा भा यस्याऽसौ प्रभः, न सन्ति रुचिरपवित्रासहा अरयो यस्य सः अरुचिरपवित्रासहारिः, अरुचिरपवित्रासहारिश्चासौ प्रभश्चेति कर्मधारयगर्भं वा इदमामन्त्रणम्, हे 'सद्धीर !' सतां मध्ये धीर, सँश्चासौ धीरश्चेति वा तस्यामन्त्रणम्, हे 'अपवित्रास !' अप-गतो वित्रासः-भयं यस्मात् तस्यामन्त्रणम्, हे 'हारिप्रभाव !' मनोहरानुभाव ! हे वासुपूज्य ! त्वं 'लोकं' भव्यप्राणिनम् 'अव' रक्ष । त्वं किं० ? 'अर्कतुल्यः' सूर्यसदृशः, किं कुर्वन् ? 'पद्मोल्लासे' लक्ष्मीविलासे 'पटुत्वं' निपुणत्वं दधत्, अर्कोऽपि च पद्मोल्लासे-कमलविकासे पटुत्वं बिभर्ति । *पुनः* किम्भूतः ? अधिका-जगदतिशायिनी रुचिः-कान्तिर्यस्य अधिका-अधिकसुखा रुचिः-सम्यग्दृष्टिर्वा यस्य स तथा,

पुनः किं कुर्वन्? 'अभितः' समन्ताद् 'अयशः' अकीर्ति 'हरन्' अपनयन्। पुनः किं० ? कुमतमेव*बौद्धादिदर्शनम् अपहन्तीति कुमतापहः। पुनः किं० ? 'छायामयः'.................। पुनः किं० ? गलन्–शिथिलीभवन् नवरतस्य–अभिनवनिधुवनस्य मलः–मलमिव*भावमालिन्यहेतुत्वान्मलो यस्मात् सः, अस्ति हि समयाभ्यासस्य पुंवेदोदयनिरोधहेतुत्वेन तथात्वम्। पुनः किं० ? नयैः–नैगमादिभिः 'शोभितः' भ्राजितः ॥ ३ ॥

सुकृतपटुतां विघ्नोच्छित्त्या तवारिहतिक्षमा–
ऽपविफलकरा द्युत्याऽगेहाऽऽघनाघनराजिता।
वितरतु महाकाली घण्टाक्षसन्ततिविस्फुर–
त्पविफलकरा द्युत्यागेहा घनाघनराजिता ॥ ४ ॥

॥ इति श्रीश्रेयांसजिनस्तुतिः ॥ ११ ॥

सुकृतेति ॥ हे 'अगेह!' गेहरहित! महाकाली 'विघ्नोच्छित्त्या' पापापनयनेन तव 'सुकृतपटुतां' पुण्यप्रभुत्वं 'वितरतु' ददातु। किम्भूता ? अरीणां–वैरिणां हतिः–नाशः तत्र क्षमा–समर्था, एतेन परार्थसम्पत्तिवाहिका स्वार्थसम्पद्युक्ता। पुनः किं० ? अप–गतं विफलं–मोघं कर्म यस्याः सा ईदृशी सती कं–सुखं रातीति अपविफलकरा, अप–गतो विफलः–मोघः करः–दण्डो यस्याः सेति वा। पुनः किं० ? 'द्युत्या' कान्त्या*आ–समन्तात्* 'घनाघनराजिता' मेघवत् शोभिता। पुनः किं० ? घण्टा च अक्षसन्ततिश्च विस्फुरती–शोभमाने पविफले च घण्टाक्षसन्ततिविस्फुरत्पविफलानि, तानि करे–हस्ते यस्याः सा। *पुनः किं० ? द्यु-

वि–स्वर्लोके त्यागेहा–दानेच्छा यस्याः सा, नृभवस्पृहयालुतया धोः त्यागेहा वा यस्याः सा* । पुनः किं० ? घनाघा–निबिडपापा ये नराः–मनुजास्तैरजिता तेषामप्रत्यक्षेति ॥ ४ ॥

॥ इति श्रीश्रेयांसजिनस्तुतिविवरणम् ॥ ११ ॥

पद्मोल्लासे पटुत्वं दधदधिकरुचिर्वासुपूज्याऽर्कतुल्यो
लोकं सद्धीरपाताशमरुचिरपवित्रासहारिप्रभाऽव ।
लुम्पन् स्वैर्गोविलासैर्जगति घनतमो दुर्नयध्वस्ततत्त्वा-
लोकं सद्धीर ! पाता शमरुचिरपवित्रास ! हारिप्रभाव ! ॥

पद्मोल्लास इति ॥ हे 'अरुचिरपवित्रासहारिप्रभ !' रुचिराश्च पवित्राश्च रुचिरपवित्राः–समतपवित्रान्तःकरणाः श्रमणाः तान् न सहन्त इति तदसहाः ते च ते अरयः–यौद्धादयस्तेषां प्रभा–कान्तिः सा नास्ति यस्मात्तस्यामन्त्रणम्; प्रकृष्टा भा यस्याऽसौ प्रभः, न सन्ति रुचिरपवित्रासहा अरयो यस्य सः अरुचिरपवित्रासहारिः, अरुचिरपवित्रासहारिश्चासौ प्रभश्चेति कर्मधारयगर्भं वा इदमामन्त्रणम्; हे 'सद्धीर !' सतां मध्ये धीरः सँश्चासौ धीरश्चेति वा तस्यामन्त्रणम्, हे 'अपवित्रास !' अप–गतो वित्रासः–भयं यस्मात् तस्यामन्त्रणम्, हे 'हारिप्रभाव !' मनोहरानुभाव ! हे वासुपूज्य ! त्वं 'लोकं' भव्यप्राणिनम् 'अव' रक्ष । त्वं किं० ? 'अर्कतुल्यः' सूर्यसदृशः, किं कुर्वन् ? 'पद्मोल्लासे' लक्ष्मीविलासे 'पटुत्वं' निपुणत्वं दधत्, अर्कोऽपि च पद्मोल्लासे–कमलविकासे पटुत्वं बिभर्ति । *पुनः* किम्भूतः ? अधिका–जगदतिशायिनी रुचिः–कान्तिर्यस्य अधिका–अधिकसुखा रुचिः–सम्यग्दृष्टिर्वा यस्य स तथा;

थर्कोऽपि च सकलग्रहमण्डलेऽधिकरुचिर्भवति । पुनः किं० ? सती–शोभना धीर्यस्य स तथा । लोकं किम्भूतम् ? नास्ति पाताशा–संसारपतनेच्छा यस्य स तथा तम्, भवभीरुमित्यर्थः । पुनस्त्वं किं कुर्वन् ? 'स्वैः' आत्मीयैः 'गोविलासैः' वाणीविलासैः 'जगति' भुवने 'घनतमः' सान्द्रमज्ञानं 'लुम्पन्' अपनयन्, अर्कोऽपि च गोविलासैः–किरणविलासैः घनतमः–शार्वरमन्धकारं लुम्पति । लोकं किम्भूतम् ? * दुर्नयैः * ध्वस्तः–बौद्धादिभिर्नाशितः तस्यालोकः–परमार्थप्रकाशो यस्य स तथा तम्, अर्कोऽपि हि ध्वस्तालोकं लोकं नयनमुद्राजननीं निमीलामपहृत्य त्रायत इति श्लेषः । त्वं किं० ? 'पाता' रक्षिता, एतेन रक्षितारं प्रति रक्षाप्रार्थनं नाविचारितरमणीयमिति सूचितम् । पुनः किं० ? शमे रुचिर्यस्य स तथा ॥ १ ॥

लोकानां पूरयन्ती सपदि भगवतां जन्मसंज्ञे गतिर्मे,
हृद्या राजी वनेऽत्राऽभवतुदऽमरसार्थानताऽपातमोहा ।
साक्षात् किं कल्पवल्लिर्विबुधपरिगता क्रोधमानार्त्तिमाया-
हृद्या राजीवनेत्रा भवतु दमरसाऽर्थानतापा तमोहा ॥ २ ॥

लोकानामिति ॥ सा 'भगवतां' तीर्थकृतां 'राजी' श्रेणिः 'अत्र' प्रत्यक्षे 'जन्मसंज्ञे' जनुराह्वये वने 'मे' मम 'गतिः' आधारो भवतु । किम्भूता ? 'हृद्या' मनोज्ञा, पुनः किं० ? तोदनं तुत्–पीडा, भवस्य–संसारस्य तुत् भवतुत्, नास्ति भवतुद् यस्याः साऽभवतुत् । पुनः किं० ? अमरसार्थेन–सुरसमूहेन आनता–प्रणता । पुनः किं० ? नास्ति पातः–संसारगर्त्तपतनं मोहः–अज्ञानं च यस्याः सा । किं कुर्वती ? 'लोकानां' जनानां 'सपदि' तत्कालम् 'अर्थान्' मनोज्ञा-

ञ्छितपदार्थान् 'पूरयन्ती' इष्टसिद्ध्या निवृत्तेच्छान् कुर्वती, 'किम्' उत्प्रेक्षे 'साक्षात्' प्रत्यक्षा 'कल्पवल्लिः' सुरतरुप्रततिः, किम्भूता ? विबुधैः–देवैः परिगता–आश्रिता । सा का ? या क्रोधः–परिताप-लक्षणो मानश्च–स्वगुणाभिष्वङ्गलक्षणो आर्तिश्च–शोकादिलक्षणा माया च–परवञ्चनलक्षणा क्रोधमानार्त्तिमायाः, ता हरति या सा । पुनः किं० ? राजीववत्–कमलवत् नेत्रे–लोचने यस्याः सा तथा । पुनः किं० ? दमे–इन्द्रियविजयलक्षणे रसः–दृढचित्तादरो यस्याः सा तथा । पुनः किं० ? 'अतापा' तापरहिता । पुनः किं० ? 'तमोहा' पापत्यागकारिणी ॥ २ ॥

उत्तुङ्गस्त्वय्यभङ्गः मथयति सुकृतं चारुपीयूषपीनाऽऽ-
स्वादे शस्तादराऽतिक्षतशुचि सदनेकान्त ! सिद्धान्तरागः ।
रङ्गत्सङ्गप्रसङ्गोल्लसदसमनये निर्मितानङ्गभङ्ग-
स्वादेश ! स्तादऽरातिक्षतशुचिसदने कान्तसिद्धान्त ! रागः ॥

उत्तुङ्ग इति ॥ हे 'शस्तादर !' शस्तः–प्रशस्त आदरो यस्य शस्ते–कल्याणे वा आदरो यस्य, कल्याणकरणबद्धाभिनिवेशत्वा *त्, तस्याऽऽमन्त्रणम्, हे 'स*दनेकान्त !' *सन्–शोभनः अनेकान्तः–*स्वविषयः स्याद्वादो यस्य तस्यामन्त्रणम्, हे 'निर्मितानङ्गभङ्गस्वादेश !' निर्मितः–विहितोऽनङ्गभङ्गः–कन्दर्पप्रतिघातो यैस्तादृशाः सुष्ठु–शोभना आदेशाः–अवद्यश्रुतोपदेशा विधयो वा यस्य स तस्यामन्त्रणम्, हे 'कान्तसिद्धान्त !' मनोहरागम ! त्वयि मम 'अभङ्गः' अक्षयः 'रागः' प्रेम 'उत्तुङ्गः' प्रतिक्षणं प्रवर्द्धमानः 'स्तात्' भवतु ।

१ "हे 'शस्त !' प्रशस्त ! 'अदर ! निर्भय ! इति पदद्वय वा" इत्यवचूर्याम् ॥

थर्कोऽपि च सकलग्रहमण्डलेऽधिकरुचिर्भवति । पुनः किं० ? सती–शोभना धीर्यस्य स तथा । लोकं किम्भूतम् ? नास्ति पाताशा–संसारपतनेच्छा यस्य स तथा तम्, भवभीरुमित्यर्थः । पुनस्त्वं किं कुर्वन् ? 'स्वैः' आत्मीयैः 'गोविलासैः' वाणीविलासैः 'जगति' भुवने 'घनतमः' सान्द्रमज्ञानं 'लुम्पन्' अपनयन्, अर्कोऽपि च गोविलासैः–किरणविलासैः घनतमः–शार्वरमन्धकारं लुम्पति । लोकं किम्भूतम् ? * दुर्नयैः * ध्वस्तः–बौद्धादिभिर्नाशितः सत्त्वालोकः–परमार्थप्रकाशो यस्य स तथा तम्, अर्कोऽपि हि ध्वस्तालोकं लोकं नयनमुद्राजननीं निमीलामपहृत्य त्रायत इति श्लेषः । त्वं किं० ? 'पाता' रक्षिता, एतेन रक्षितारं प्रति रक्षाप्रार्थनं नाविचारितरमणीयमिति सूचितम् । पुनः किं० ? शमे रुचिर्यस्य स तथा ॥ १ ॥

लोकानां पूरयन्ती सपदि भगवतां जन्मसंज्ञे गतिर्मे,
हृद्या राजी घनेऽत्राऽभयतुदऽमरसार्थानताऽपातमोहा ।
साक्षात् किं कल्पवल्लिर्विबुधपरिगता क्रोधमानार्तिमाया–
हृद्या राजीवनेत्रा भवतु दमरसाऽर्थानतापा तमोहा ॥ २ ॥

लोकानामिति ॥ सा 'भगवतां' तीर्थकृतां 'राजी' श्रेणिः 'अत्र' प्रत्यक्षे 'जन्मसंज्ञे' जनुराह्वये घने 'मे' मम 'गतिः' आधारो भवतु । किम्भूता ? 'हृद्या' मनोज्ञा, पुनः किं० ? तोदनं तुत्–पीडा, भयस्य–संसारस्य तुत् भयतुत्, नास्ति भयतुद् यस्याः साऽभयतुत् । पुनः किं० ? अमरसार्थेन–सुरसमूहेन आनता–प्रणता । पुनः किं० ? नास्ति पातः–संसारगर्तपतनं मोहः–अज्ञानं च यस्याः सा । किं कुर्वती ? 'लोकानां' जनानां 'सपदि' तत्कालम् 'अर्थान्' मनोवा–

ञ्छितपदार्थान् 'पूरयन्ती' इष्टसिद्ध्या निवृत्तेच्छान् कुर्वती, 'किम्' पक्षेऽत्र 'साक्षात्' प्रत्यक्षा 'कल्पवल्लिः' सुरतरुप्रततिः, किम्भूता ? विबुधैः—देवैः परिगता—आश्रिता । सा का ? या क्रोधः—परितापलक्षणो मानश्च—स्वगुणाभिव्यङ्गलक्षणो अर्त्तिश्च—शोकादिलक्षणा माया च—परवञ्चनलक्षणा क्रोधमानार्त्तिमायाः, ता हरति या सा । पुनः किं० ? राजीववत्—कमलवत् नेत्रे—लोचने यस्याः सा तथा । पुनः किं० ? दमे—इन्द्रियविजयलक्षणे रसः—दृढचित्तादरो यस्याः सा तथा । पुनः किं० ? 'अतापा' तापरहिता । पुनः किं० ? 'तमोहा' पापत्यागकारिणी ॥ २ ॥

उत्तुङ्गस्त्वय्यभङ्गः प्रथयति सुकृतं चारुपीयूषपीनाऽऽ-
स्वादे शस्तादराऽतिक्षतशुचि सदनेकान्त ! सिद्धान्तरागः ।
रङ्गम्भङ्गमसङ्गोल्लसदसमनये निर्मितानङ्गभङ्ग-
स्यादेश ! स्तादऽरातिक्षतशुचिसदने कान्तसिद्धान्त ! रागः ॥

उत्तुङ्ग इति ॥ हे 'शस्तादर !' शस्तः—प्रशस्त आदरो यस्य शस्ते—कल्याणे वा आदरो यस्य, कल्याणकरणश्रद्धामिनिवेशत्वा *त्, तस्याऽऽमन्त्रणम्, हे 'स*दनेकान्त !' *सन्—शोभनः अनेकान्तः—*स्वविषयः स्याद्वादो यस्य तस्यामन्त्रणम्, हे 'निर्मितानङ्गभङ्गस्यादेश !' निर्मितः—विहितोऽनङ्गभङ्गः—कन्दर्पप्रतिघातो यैरेतादृशाः सुष्ठु—शोभना आदेशाः—अवद्यमुखोपदेशा विषयो वा यस्य स तस्यामन्त्रणम्, हे 'कान्तसिद्धान्त !' मनोहरागम ! त्वयि मम 'अभङ्गः' अक्षयः 'रागः' प्रेम 'उत्तुङ्गः' प्रतिक्षणं प्रवर्द्धमानः 'स्तात्' भवतु ।

* "हे 'शस्त !' प्रशस्त ! 'अदर ! निर्भय ! इति पदद्वयं वा" इत्यवचूर्णोम् ॥

अर्कोऽपि च सकलग्रहमण्डलेऽधिकरुचिर्भवति । पुनः किं० ? सती–शोभना धीर्यस्य स तथा । लोकं किम्भूतम् ? नास्ति पाता॰ शा–संसारपतनेच्छा यस्य स तथा तम्, भवभीरुमित्यर्थः । पुनस्त्वं किं कुर्वन् ? 'स्वैः' आत्मीयैः 'गोविलासैः' वाणीविलासैः 'जगति' भुवने 'घनतमः' सान्द्रमज्ञानं 'लुम्पन्' अपनयन्, अर्कोऽपि च गो-विलासैः–किरणविलासैः घनतमः–शार्वरमन्धकारं लुम्पति । लोकं किम्भूतम् ? * दुर्नयैः * ध्वस्तः–बौद्धादिभिर्नाशितः तत्त्वालोकः–परमार्थप्रकाशो यस्य स तथा तम्, अर्कोऽपि हि ध्वस्तालोकं लोकं नयनमुद्राजननीं निमीलामपहृत्य त्रायत इति श्लेषः । त्वं किं० ? 'पाता' रक्षिता, एतेन रक्षितारं प्रति रक्षाप्रार्थनं नाविचारितरमणीयमिति सूचितम् । पुनः किं० ? शमे रुचिर्यस्य स तथा ॥ १ ॥

लोकानां पूरयन्ती सपदि भगवतां जन्मसंज्ञे गतिर्मे,
हृद्या राजी वनेऽत्राऽभवतुदऽमरसार्थानताऽपातमोहा ।
साक्षात् किं कल्पवल्लिर्विबुधपरिगता क्रोधमानार्त्तिमाया·
हृद्या राजीवनेत्रा भवतु दमरसाऽर्थानत्तापा तमोहा ॥ २ ॥

लोकानामिति ॥ सा 'भगवतां' तीर्थकृतां 'राजी' श्रेणिः 'अत्र' प्रत्यक्षे 'जन्मसंज्ञे' जनुराह्वये वने 'मे' मम 'गतिः' आधारो भवतु । किम्भूता ? 'हृद्या' मनोज्ञा, पुनः किं० ? तोदनं तुत्–पीडा, भवस्य–संसारस्य तुत् भवतुत्, नास्ति भवतुद् यस्याः साऽभवतुत् । पुनः किं० ? अमरसार्थेन–सुरसमूहेन आनता–प्रणता । पुनः किं० ? नास्ति पातः–संसारगर्त्तपतनं मोहः–अज्ञानं च यस्याः सा । किं कुर्वती ? 'लोकानां' जनानां 'सपदि' तत्कालम् 'अर्थान्' मनोज्ञा·

ञ्छितपदार्थान् 'पूरयन्ती' इष्टसिद्ध्या निवृत्तेच्छान् कुर्वती, 'किम्' उत्प्रेक्षे 'साक्षात्' प्रत्यक्षा 'कल्पवल्लिः' सुरतरुप्रततिः, किम्भूता ? विबुधैः–देवैः परिगता–आश्रिता । सा का ? या क्रोधः–परितापलक्षणो मानश्च–स्वगुणाभिप्वङ्गलक्षणो अर्चिश्च–शोकादिलक्षणा माया च–परवञ्चनलक्षणा क्रोधमानार्चिमायाः, ता हरति या सा । पुनः किं० ? राजीववत्–कमलवत् नेत्रे–लोचने यस्याः सा तथा । पुनः किं० ? दमे–इन्द्रियविजयलक्षणे रसः–दृढचित्तादरो यस्याः सा तथा । पुनः किं० ? 'अतापा' तापरहिता । पुनः किं० ? 'तमोहा' पापत्यागकारिणी ॥ २ ॥

उत्तुङ्गस्त्वय्यभङ्गः प्रथयति सुकृतं चारुपीयूषपीनाऽऽ-
स्वादे शस्तादराऽतिक्षतशुचि सदनेकान्त ! सिद्धान्तरागः ।
रङ्गत्कुङ्गमसङ्गोल्लसदसमनये निर्मितानङ्गभङ्ग-
स्वादेश ! स्यादऽरातिक्षतशुचिसदले कान्तसिद्धान्त ! रागः ॥

उत्तुङ्ग इति ॥ हे 'शस्तादर !' शस्तः–प्रशस्त आदरो यस्य शस्ते–कल्याणे वा आदरो यस्य, कल्याणकरणबद्धाभिनिवेशत्वा *त्, तस्याऽऽमन्त्रणम्, हे 'स*दनेकान्त !' *सन्–शोभनः अनेकान्तः–*स्वविषयः स्याद्वादो यस्य तस्यामन्त्रणम्, हे 'निर्मितानङ्गभङ्गस्वादेश !' निर्मितः–विहितोऽनङ्गभङ्गः–कन्दर्पप्रतिघातो यैरेतादृशाः सुसु–शोभना आदेशाः–अवद्धश्रुतोपदेशा विषयो वा यस्य स तस्यामन्त्रणम्, हे 'कान्तसिद्धान्त !' मनोहरागम ! त्वयि मम 'अभङ्गः' अक्षयः 'रागः' प्रेम 'उत्तुङ्गः' प्रतिक्षणं प्रवर्द्धमानः 'स्यात्' भवतु ।

१ "हे 'शस्त !' प्रशस्य ! 'अदर ! निर्भय ! इति पदद्वय वा"इत्यवचूर्याम् ॥

त्वयि किम्भूते ? चारु–पेशलं यत् पीयूषम्–अमृतं तद्वत् पीनः–मेदुर आस्वादः–चर्वणाजनितरसो यस्य स तथा तस्मिन् । पुनः किं० ? अतिशयेन क्षता–नाशिता शुक्–शोको येन स तथा तस्मिन् । पुनः किं० ? रङ्गताम्–अन्योन्यमनुप्रविशतां भङ्गानां–विकल्पविशेषाणां यः प्रसङ्गः–एकार्थप्रत्यासत्तिलेन उल्लसन्तः–यथास्थानमापन्नो असमाः–निरुपमाः तन्त्रान्तरातीतत्वात् नयाः–नैगमादयो यस्य स तथा तस्मिन् । पुनः किं० ? अरातीनां–वैरिणां क्षतं यस्मादेवादृशं यत् शुचि–भाग्यं तस्य सदने–गृहे, किं कुर्वति ? 'प्रथयति' विस्तारयति, किम् ? 'सुकृतं' पुण्यम्, किम्भूतम् ? सिद्धान्तरं–जातविच्छेदम् आगः–मन्तुर्यस्मात् तत् तथा ॥ ३ ॥

वाग्देवि ! प्रीणयन्ती पटुविविधनयोन्नीतशास्त्रार्थनिष्ठा-शङ्कान्ते ! देहि नव्येरितरणकुशले ! सुभ्रुवा देवि ! शिष्टम् ।
श्रद्धाभाजां प्रसादं सुमतिकुमुदिनीचन्द्रकान्ति ! प्रपूर्णाऽऽशं कान्ते ! देहिनव्येऽरितरणकुशले ! सुभ्रु ! वादे विशिष्टम् ॥

॥ इति श्रीवासुपूज्यजिनस्तुतिः ॥ १२ ॥

वाग्देवि ! इति ॥ हे 'पटु० कान्ते !' पटवः–दुर्नयनिराससमर्था विविधाः–विचित्रार्थविषया ये नयाः–नैगमादयस्तैः उन्नीता–प्रकटिता या शास्त्रार्थनिष्ठा–तत्त्वविषयमर्यादा तया शङ्कायाः–सन्देहस्य अन्तः–परिक्षयो यस्याः सकाशात् सा तथा तस्या आमन्त्रणम्, हे 'नव्ये०शले !' नव्यः नवीन ईरितः–प्रेरितो यो रणः–सङ्ग्रामस्तत्र कुशलं–कल्याणं यस्याः तस्या आमन्त्रणम्, हे 'सुम० कान्ति !' सुमतिरेव–उत्तमधीरेव कुमुदिनी–कैरविणी तत्र च-

न्द्रकान्तिरिव–सोममरीचिरिव या सा तथा तस्या आमन्त्रणम्, हे 'कान्ते !' मनोज्ञे !, हे 'देहिनव्ये !' देहिभिः–प्राणिभिः नव्या–स्तवनीया यस्या आमन्त्रणम्, हे 'अरि० शले !' अरीणां–वैरिणां हरणं–पारगमनम् तद्विजय इत्यर्थः तत्र कुशले !–दक्षे !, हे 'सुभ्रु !' सुभ्रु–शोभना भ्रूर्यस्यास्तस्या आमन्त्रणम्, हे 'देवि !' पूज्ये ! हे 'वाग्देवि !' सरस्वतीदेवि !, अथवा 'विप्रीणयन्ती' विशेषेण प्रीणयन्तीति पृथक्करणात् हे 'वाग्दे !' वचनप्रदे ! देवि ! त्वं 'सुभ्रुवा' उत्तमभ्रुवा कृत्वा 'श्रद्धाभाजां' जिनमतभक्तिशालिनां पुरुषाणां 'वादे' वादविषये 'विशिष्टम्' अतिशयितं 'प्रसादं' कुशलानुबन्धिनं 'देहि' प्रयच्छ । प्रसादं किं० ? प्रपूर्णा आशा यस्मात्तम् । त्वं किं कुर्वती ? 'शिष्टं' सदाचारं 'प्रीणयन्ती' सन्तोषयन्ती ॥ ४ ॥

॥ इति श्रीवासुपूज्यजिनस्तुतिविवरणम् ॥ १२ ॥

नमो हतरणायतेऽसमदमाय पुण्याशया,
सभाजित ! विभासुरैर्विमलविश्वमारक्षते ! ।
न मोहतरणाय ते समदमाय ! पुण्याशया–
सभाजितविभासुरैर्विमलविश्वमारक्षते ! ॥ १ ॥

नम इति ॥ हे 'हतरणायते !' हतरणा–हतसङ्ग्रामा प्रशमपवित्रा वा आयतिः–उत्तरकालो यस्य, हता वा रणायतिर्येन तस्यामन्त्रणम् । हे 'सभाजित !' सेवित !, कैः ? 'असुरैः' भवनपतिविशेषैः, किम्भूतैः ? 'विभासुरैः' देदीप्यमानैः, कया ? 'पुण्याशया' धर्मेलिप्सया । हे 'न समदमाय !' न साहङ्कारकपट ! । हे 'पुण्याशयासभाजितविभ !' सभया पर्षदा प्रति (?) परेषां

त्वयि किम्भूते ? चारु-पेशलं यत् पीयूषम्-अमृतं तद्वत् पीनः-मेदुर आस्वादः-चर्वणाजनितरसो यस्य स तथा तस्मिन्। पुनः किं० ? अतिशयेन क्षता-नाशिता शुक्-शोको येन स तथा तस्मिन्। पुनः किं० ? रङ्गताम्-अन्योन्यमनुप्रविशतां भङ्गानां-विकल्पविशेषाणां यः प्रसङ्गः-एकार्थप्रत्यासत्तित्वेन उल्लसन्तः-यथास्यात्तमापतन्तो असमाः-निरुपमाः तथान्वयातीतत्वात् नयाः-नैगमादयो यस्य स तथा तस्मिन्। पुनः किं० ? अरातीनां-वैरिणां ध्रुवं यस्मादेतादृशं यत् शुचि-भाग्यं तस्य सदने-गृहे, किं कुर्वति ? 'प्रथयति' विस्तारयति, किम् ? 'सुकृतं' पुण्यम्, किम्भूतम् ? सिद्धान्तरं-जातविच्छेदम् आगः-मन्तुर्यस्मात् तत् तथा ॥ ३ ॥

वाग्देवि ! प्रीणयन्ती पटुविविधनयोन्नीतशास्त्रार्थनिष्ठा-शङ्कान्ते ! देहि नव्येरितरणकुशले ! सुभ्रुवा देवि ! शिष्टम्। श्रद्धाभाजां प्रसादं सुमतिकुमुदिनीचन्द्रकान्ति ! प्रपूर्णाऽऽ-थं कान्ते ! देहिनव्येऽरितरणकुशले ! सुभ्रु ! वादे विशिष्टम्॥

॥ इति श्रीवासुपूज्यजिनस्तुतिः ॥ १२ ॥

वाग्देवि ! इति ॥ हे 'पटु० कान्ते !' पटवः-दुर्नयनिरास-समर्था विविधाः-विचित्रार्थविषया ये नयाः-नैगमादयस्तैः उन्नीता-प्रकटिता या शास्त्रार्थनिष्ठा-तत्त्वविषयमर्यादा तया शङ्कायाः-सन्देहस्य अन्तः-परिक्षयो यस्याः सकाशात् सा तथा तस्या आमन्त्रणम्, हे 'नव्ये०शले !' नव्यः नवीन ईरितः-प्रेरितो यो रणः-सङ्ग्रामस्तत्र कुशलं-कल्याणं यस्याः तस्या आमन्त्रणम्, हे 'सुम० कान्ति !' सुमतिरेव-उत्तमधीरेव कुमुदिनी-कैरविणी तत्र च-

न्द्रकान्तिरिव—सोममरीचिरिव या सा तया तस्या आमन्त्रणम्, हे 'कान्ते !' मनोज्ञे !, हे 'देहिनव्ये !' देहिभिः—प्राणिभिः नव्या—स्तवनीया तस्या आमन्त्रणम्, हे 'अरि० शले !' अरीणां—वैरिणां सरणं—पारगमनम् तद्विजय इत्यर्थः तत्र कुशले !—दक्षे !, हे 'सुभ्रु !' सुभ्रु—शोभना भ्रूर्यस्यास्तस्या आमन्त्रणम्, हे 'देवि !' पूज्ये ! हे 'वाग्देवि !' सरस्वतीदेवि !, अथवा 'विप्रीणयन्ती' विशेषेण प्रीणयन्तीति पृथक्करणात् हे 'वाग्दे !' वचनप्रदे ! देवि ! त्वं 'सुभ्रुवा' उत्तमभ्रुवा कृत्वा 'श्रद्धाभाजां' जिनमतभक्तिशालिनां पुरुषाणां 'वादे' वादविषये 'विशिष्टम्' अतिशयितं 'प्रसादं' कुशलानुबन्धिवरं 'देहि' प्रयच्छ । प्रसादं किं० ? प्रपूर्णा आशा यस्मात्तम् । त्वं किं कुर्वती ? 'शिष्टं' सदाचारं 'प्रीणयन्ती' सन्तोषयन्ती ॥ ४ ॥

॥ इति श्रीवासुपूज्यजिनस्तुतिविवरणम् ॥ १२ ॥

नमो हतरणायतेऽसमदमाय पुण्याशया,
सभाजित ! विभासुरैर्विमलविश्वमारक्षते ! ।
न मोहतरणाय ते समदमाय ! पुण्याशया—
सभाजितविभासुरैर्विमलविश्वमारक्षते ! ॥ १ ॥

नम इति ॥ हे 'हतरणायते !' हतरणा—हतसङ्ग्रामा प्रशमपवित्रा वा आयतिः—उत्तरकालो यस्य, हता वा रणायतिर्येन तस्यामन्त्रणम् । हे 'सभाजित !' सेवित !, कैः ? 'असुरैः' भवनपतिविशेषैः, किम्भूतैः ? 'विभासुरैः' देदीप्यमानैः, कया ? 'पुण्याशया' धर्मलिप्सया । हे 'न समदमाय !' न साहङ्कारकपट ! । हे 'पुण्याशयासभाजितविभ !' सभया पर्षदा प्रति (?) परेषां

जिता विभा—कान्तिर्यस्य स समाजितविभः, न समाजितविभोऽसमाजितविभः, पुण्यः—पवित्रः आशयः—अध्यवसायो यस्य स पुण्याशयः, पुण्याशयश्चासौ असमाजितविभश्च पुण्याशयासमाजितविभः तस्यामन्त्रणम् । हे 'विमलविश्वमारक्षते !' मारात् या क्षतिः मारक्षतिः—कन्दर्पजनिता गुणपरिहाणिरित्यर्थः, विश्वा—सर्वा चासौ मारक्षतिश्च विश्वमारक्षतिः, मलः—बद्ध्यमानं कर्म अपि पर्यं वा (?) मलश्च विश्वमारक्षतिश्च मलविश्वमारक्षती, वि—गते मलविश्वमारक्षती यस्य स तथा तस्यामन्त्रणम्; अथवा विमला विश्वा—पृथिवी यस्मात् असौ विमलविश्वः, मारस्य—कन्दर्पस्य क्षतिः—क्षयो यस्मादसौ मारक्षतिः, विमलविश्वश्चासौ मारक्षतिश्चेति कर्मधारयगर्भमामन्त्रणं व्याख्येयम्; स्वतन्त्रं वेदमामन्त्रणद्वयम्—हे 'विमल !' मलरहित !, हे 'विश्वमारक्षते !' विश्वस्य—सर्वस्य मारस्य—मरणहेतोः क्षतिः—क्षयो यस्मात् तस्यामन्त्रणम् इति व्याख्येयम् । हे विमल ! 'ते' तुभ्यं नमः, अस्तु इति शेषः । ते किम्भूताय ? 'असमदमाय' असमः—निरुपमो दमः—इन्द्रियजयो यस्य स तथा तस्मै । पुनः किम्भूताय ? 'मोहतरणाय' मोहस्य—अष्टाविंशतिभेदस्यात्मकस्य सफलकर्ममूलभूतस्य तरणं यस्य यस्माद्वा स तथा तस्मै । किं कुर्वते ? आ—समन्तात् रक्षते, किम् ? 'विश्वं' जगद् ॥ १ ॥

महाय तरसा हिताऽजगतिबोधिदानामहो !,
दया भवतुदां ततासकलहाऽसमानाऽऽभया ।
महायतरसाहिता जगति योऽधिदाना महो-
दया भवतु दान्ततासकलहासमानाऽभया ॥ २ ॥

महायेति ॥ अजेषु—सिद्धेषु मध्ये गतिः—गमनं येषां तेऽजगतयः, ते च ते बोधिदाः—तीर्थकृतोऽजगतिबोधिदाः तेषाम्, 'अहो!' इत्याश्चर्ये 'दया' अनुपकृतोपचिकीर्षारूपा 'वः' युष्माकं 'महाय' उत्सवाय भवतु, केन ? 'तरसा' वेगेन । किम्भूता दया ? 'हिता' हितकारिणी । अजगतिबोधिदानां किम्भूतानाम् ? 'भवतुदां' भवं—संसारं तुदन्ति—क्षपयन्तीति भवतुदस्तेषाम् । दया किं० ? 'तता' विस्तीर्णा । पुनः किं० ।? 'असकलहा' सह कलहेन वर्तते या सा सकलहा, न सकलहा असकलहा । पुनः किं० ? 'असमाना' निरुपमा, कया ? 'आभया' शोभया कृत्वा । पुनः किं० ? 'महायतरसाहिता' महान्—गुरुः आयतः—विस्तीर्णो यो रसः—शान्ताख्यस्तेन आहिता—स्थापिता, क ? 'जगति' विश्वे । पुनः किं० ? 'अधिदाना' अधिकस्य अधिकं दानं यस्याः सा तथा । पुनः किं० ? 'महोदया' महान् उदयो यस्याः सा तथा । पुनः किं० ? 'दान्तताऽसकलहासमाना' न स्तः सकलौ—सम्पूर्णौ हासमानौ—स्मितस्मयौ यस्याः साऽसकलहासमाना, दान्ततया स्वसमानाधिकरणेन च तेष्वहेतुभूतेन असकलहासमाना दान्तताऽसकलहासमाना । पुनः किं० ? 'अभया' नास्ति भयं यस्याः सकाशात् सा ॥ २ ॥

क्रियादऽरमऽनन्तरागततया चितं वैभवं,
मतं समुदितं सदा शमवताऽभवेनोदितम् ।
क्रियादरमऽनन्तरागततयाचितं वैभवं,
मतं समुदितं सदाशमऽवता भवेऽनोदितम् ॥३॥

क्रियादिति ॥ 'वैभवं' विभुसम्बन्धि आर्हतमित्यर्थः 'मतं

शासनं * 'मतम्' * अभीष्टं 'वैभवं' विभवं प्रभुत्वं वा 'अरम्' अत्यर्थं क्रियात् । किम्भूतम् ? 'सदा' नित्यम् 'अनन्तरागततया' अविच्छिन्नशिष्यप्रशिष्यादिपरम्पराप्राप्ततया 'चितं' पुष्टम्, सुसम्प्रदायेन निबद्धार्थमित्यर्थः । पुनः किं० ? 'समुदितं' सह मुदा-हर्षेण वर्त्तत इति समुत् तेन इतं-प्राप्तम् । पुनः किं० ? 'उदितम्, उक्तम्, केन ? 'शमवता' उपशमयुक्तेन 'अभवेन' भवरहितेन,' क्षीणघातिकर्मणा तीर्थकृतेत्यर्थः, किं कुर्वता ? 'अवता' रक्षता, कम् ? 'सदाशं सती-निदानाद्यकलङ्किता आशा-मोक्षेच्छा यस्य तम्, अवति हि भगवान् मुमुक्षु*जन*मुचितोपदेशदानेनेति सूक्तमेतत् । पुनः किम्भूतम् ? 'समुदितं निर्युक्तिभाष्याद्यङ्गप्रबन्धेन पुञ्जीभूतं सम्-सामस्त्येन उदितम्-उदयप्राप्तमिति वा । पुनः किं० अनोदितं 'अप्रेरितम्' क ? 'भवे' [संसारे], अथवा 'नो' इति नवर्थेऽव्ययम्, ततो 'भवे' संसारे 'नो दितं' न खण्डितमित्यर्थः । पुनः किं० ? क्रियायां-प्रेक्षोत्प्रेक्षादौ आभ्यन्तरधर्मसाधने दृढयोगव्यापारे आदरः-प्राधान्येनोपदेशप्रवणत्वं यत्र तत्, अयमेव हि आगमोपनिषद्भूतोऽर्थः, यदुक्तम्—

सव्वेसिं पि णयाणं, बहुविहवत्तव्वयं णिसामित्ता ।
तं सव्वणयविसुद्धं, जं चरणगुणट्ठिओ साहू ॥ इति ।

पुनः किं० ? अनन्तः अपरिमितो यो रागः-आदरः तेन धवाः-विस्तीर्णा ये तैः 'याचितम्' अभ्येतुं गुरुपार्श्वे प्रार्थितमित्यर्थः ॥ ३ ॥

प्रभा वितरतादरं सुरभियाऽतता रोहिणी-
हिताशुगुरु चाऽपराजितकरादमारोपिता ।

प्रभावितरतादरं सुरभियाततारोहिणी,
हिताऽऽशु गुरुचापराजितकरा शमाऽऽरोचिता॥४॥
॥ इति श्रीविमलजिनस्तुतिः ॥ १३ ॥

प्रभेति ॥ रोहिणी 'शं' सुखम् 'अरम्' अत्यर्थम् 'आशु' शीघ्रं 'वितरतात्' यच्छतु । किम्भूतम् ? ईहितैः—वाञ्छितैः कृत्वा अश्रुक्-शोकरहितम्, कामितपूर्त्या गलिततदप्राप्तिशोकमित्यर्थः, 'च' पुनः 'उरु' विस्तीर्णम् । पुनः किं० ? प्रभावोऽस्यास्तीति प्रभावी, अतिशयितः प्रभावी प्रभावितरः, तस्य भावस्तत्ता तया आदरो यत्र तत् तथा । रोहिणी किं० ? 'प्रभा' प्रकृष्टा भा—कान्तिर्यस्याः सा तथा । पुनः किं० ? सुरेभ्यो भीः सुरभीस्तया ' अतता' अविस्तीर्णा । पुनः किं० ? परैः अजितः पराजितः, न पराजितोऽपराजितः तादृक् करः—दण्डः पाणिः कान्तिर्वा यस्य सदृशो सोऽर्थोऽस्ति न(?)मियस्तत्र आशा—अभिनिवेशो यस्य तादृग् यो मारः—कन्दर्पः तेन उचिता—अनुरूपा । पुनः किं० ? सुरभिं—गां याता—प्राप्ता, तारोहिणी—स्फारविचारिणी, * सुरभियाता चासौ तारोहिणी चेति कर्मधारयः * । पुनः किं० ? 'हिता' हितकारिणी । पुनः किं० ? गुरुणा—महता चापेन—काण्डेन राजितः—शोभितः करः—हस्तो यस्याः सा तथा । पुनः किं० ? आ—समन्ताद् रोचिता—श्रद्धाविषयीकृता, आराधकैरिति शेषः ॥ ४ ॥

॥ इति श्रीविमलजिनस्तुतिविवरणम् ॥ १३ ॥

कलितमोदमऽनन्तरसाश्रये,
शिवपदे स्थितमऽस्तभवापदम् ।

त्रिदशपूज्यमनन्तजितं जिनं,
कलितमोदमनं तरसाऽऽश्रये ॥ १ ॥

कलितमोदमिति ॥ अहम् अनन्तजितं जिनं 'तरसा' वेगेन 'आश्रये' सेवे । किम्भूतम् ? कलितः—धृतो मोदः—हर्षो येन स तथा तम् । पुनः किं० ? स्थितम्, क ? 'शिवपदे' मुक्तिस्थाने, किम्भूते ? अनन्तः—अन्तरहितो यो रसः—शान्ताख्यः तदाश्रये—तद्गृहे, अनन्ताह्वा या रसा—पृथिवी ईषत्प्राग्भाराख्या तस्या आश्रयः—व्यवहारस्य आधारो यस्य यत् तथा तत्र इति वा । पुनः किम्भूतम् ? अस्ता—ध्वस्ता भवापत्—भवविपत्तिः येन स तथा तम् । पुनः किं० ? त्रिदशानां—देवानां पूज्यं—पूजनीयम् । पुनः किं० ? कलिः—सङ्ग्रामः तमश्च—पापं तयोः दमनं—तन्नाशकारिणमित्यर्थः॥१॥

जिनवरा गततापदरोचितां,
प्रददतां पदवीं मम शाश्वतीम् ।
दुरितहृद्वचना न कदाचनाऽऽ-
जिनवरागततापदरोषिताम् ॥ २ ॥

जिनवरा इति ॥ 'जिनवराः' तीर्थङ्करा मम 'शाश्वतीं' ध्रुवां 'पदवीं' मोक्षमार्गलक्षणां 'प्रददतां' प्रयच्छन्तु । किम्भूताम् ? गतः तापः—आध्यात्मिकादिलक्षणो दरश्च—भयम् इहलोकादिलक्षणं यस्याः सा तादृशी न्यायाद् उचिता—अनुरूपा च ताम् । जिनवराः कि-म्भूताः ? दुरितहृत्—पापहारि वचनं येषां ते । पदवी किम्भूता ? 'कदाचन' जातुचित् 'न' नैव आजिः—सङ्ग्रामो नयरागम—अनि-

नयाभिव्यक्तलक्षणः ताभ्यां तता-विस्तीर्णा या आपद्-विपत्तिः तयाऽरोचिता-अरुचिनिपरीकृता * ताम् * ॥ २ ॥

सुरसमानसदक्षरहस्य ! ते,
मधुरिमाऽऽगम ! सोऽस्तु शिवाय नः ।
जगति येन सुधाऽपि घनप्रभा-
सुरसमानसदक्षर ! हस्यते ॥ ३ ॥

सुरेति ॥ हे 'सुरसमानसदक्षरहस्य !' सुष्टु-शोभनो रसो यत्र तादृशं मानसं-चित्तं येषां ते च ते दक्षाः-निपुणाश्च तेषां रहस्य !-उपनिषद्भूत !, हे 'घनप्रभासुरसमानसदक्षर !' घनानि-निबिडानि प्रभासुराणि-देदीप्यमानानि समानानि-मानसहितानि सन्ति-उत्तमानि अक्षराणि यस्य स तथा तस्यामन्त्रणम्, हे आगम ! 'ते' तव सः 'मधुरिमा' आस्वादसंवेद्यमाधुर्यगुणः *'नः' अस्माकं* 'शिवाय' मोक्षायाऽस्तु । स कः ? येन 'जगति' विश्वे 'सुधाऽपि' अमृतमपि 'हस्यते' विडम्ब्यते ॥ ३ ॥

सदसि रक्षति भासुरवाजिनं,
जगदिता फलकेषुधनुर्धरा ।
जयति येयमिह प्रणताऽच्युता,
सदसिरऽक्षतिभा सुरवा जिनम् ॥ ४ ॥

॥ इति श्रीमनन्तजिनस्तुतिः ॥ १४ ॥

सदसीति ॥ इयमच्युता 'इह' जगति 'सदसि' पर्षदि जयति । किम्भूता ? 'प्रणता' कृतप्रणामा, कम् ? 'जिनम्' भगवन्तम्,

---

१ निपुणाश्च ममयरादयो बोद्धव्याः ।

त्रिदशपूज्यमनन्तजितं जिनं,
कलितमोदमनं तरसाऽऽश्रये ॥ १ ॥

कलितमोदमिति ॥ अहम् अनन्तजितं जिनं 'तरसा' वेगेन 'आश्रये' सेवे । किम्भूतम् ? कलितः–धृतो मोदः–हर्षो येन स तथा तम् । पुनः किं० ? स्थितम्, क ? 'शिवपदे' मुक्तिस्थाने, किम्भूते ? अनन्तः–अन्तरहितो यो रसः–शान्ताख्यः तदाश्रये–तद्गृहे, अनन्ताहा या रसा–पृथिवी ईषत्प्राग्भाराख्या तस्या आश्रयः–व्यवहारत आधारो यस्य तत् तथा तत्र इति वा । पुनः किम्भूतम् ? अस्ता–ध्वस्ता भवापत्–भवविपत्तिः येन स तथा तम् । पुनः किं० ? त्रिदशानां–देवानां पूज्यं–पूजनीयम् । पुनः किं० ? कलिः–सङ्ग्रामः तमश्च–पापं तयोः दमनं–तन्नाशकारिणमित्यर्थः ॥१॥

जिनवरा गततापदरोचितां,
प्रददतां पदवीं मम शाश्वतीम् ।
दुरितहृद्वचना न कदाचनाऽऽ–
जिनवरागततापदरोचिताम् ॥ २ ॥

जिनवरा इति ॥ 'जिनवराः' तीर्थङ्करा मम 'शाश्वतीं' ध्रुवां 'पदवीं' मोक्षमार्गलक्षणां 'प्रददतां' प्रयच्छन्तु । किम्भूताम् ? गतः तापः–आध्यात्मिकादिलक्षणो दरश्च–भयम् इहलोकादिलक्षणं यस्याः सा तादृशी न्यायाद् उचिता–अनुरूपा च ताम् । जिनवराः किम्भूताः ? दुरितहृत्–पापहारि वचनं येषां ते । पदवी किम्भूता ? 'कदाचन' जातुचित् 'न' नैव आजिः–सङ्ग्रामो नयरागश्च–अनि-

नराभिव्यक्तलक्षणः ताभ्यां नवा-निस्तीर्णा या आपद्-विपत्तिः तयाऽरोचिता-अरुचिविषयीकृता * ताम् * ॥ २ ॥

सुरसमानसदक्षरहस्य ! ते,
मधुरिमाऽऽगम ! सोऽस्तु शिवाय नः ।
जगति येन सुधाऽपि घनप्रभा-
सुरसमानसदक्षर ! हस्यते ॥ ३ ॥

सुरेति ॥ हे 'सुरसमानसदक्षरहस्य !' सुष्टु-शोभनो रसो यत्र तादृशं मानसं-चित्तं येषां ते च ते दक्षाः-निपुणाश्च तेषां रहस्य !-उपनिषद्भूत !, हे 'घनप्रभासुरसमानसदक्षर !' घनानि-निबिडानि प्रभासुराणि-देदीप्यमानानि समानानि-मानसहितानि सन्ति-उत्तमानि अक्षराणि यस्य स तथा तस्यामन्त्रणम्, हे आगम ! 'ते' तव सः 'मधुरिमा' आस्वादसंवेद्यमाधुर्यगुणः *'नः' अस्माकं* 'शिवाय' मोक्षायाऽस्तु । स कः ? येन 'जगति' विश्वे 'सुधाऽपि' अमृतमपि 'हस्यते' विडम्ब्यते ॥ ३ ॥

सदसि रक्षति भासुरवाजिनं,
जगदिता फलकेषुधनुर्धरा ।
जयति येयमिह प्रणताऽच्युता,
सदसिरऽक्षतिभा सुरवा जिनम् ॥ ४ ॥

॥ इति श्रीमनन्तजिनस्तुतिः ॥ १४ ॥

सदसीति ॥ इयमच्युता 'इह' जगति 'सदसि' पर्षदि जयति । किम्भूता ? 'प्रणता' कृतप्रणामा, कम् ? 'जिनम्' भगवन्तम्,

1 निर्जुनश्च गणधरादयो बोद्धव्याः ।

अनेन सम्यग्दष्टित्वमाह । पुनः किं० ? 'सदसिः' सन्-शोभनः असिः खड्गो यस्याः सा तथा । पुनः किं० ? 'अक्षतिभा' नास्ति क्षतिः-दूषणं यस्यां सा अक्षतिः तादृशी भा-कान्तिर्यस्याः सा तथा । पुनः किं० ? 'सुरवा' सुष्टु-शोभनः रवः-शब्दो यस्याः सा तथा । इयं का ? या 'जगद्' विश्वं 'रक्षति' पालयति, किम्भूता ? 'इता' प्राप्ता, कम् ? 'भासुरवाजिनं' देदीप्यमानतुरङ्गम् । पुनः किं०-? फलकं च इषुश्च धनुश्च फलकेषुधनूंषि तानि धरति किंमणसा (?) ॥ ४ ॥

॥ इति श्रीअनन्तजिनस्तुतिविवरणम् ॥ १४ ॥

श्रीधर्म ! तव कर्मद्रु-वारणस्य सदायते ! ।
स्तवं कर्तुं कृतद्वेपि-वारणस्य सदा यते ॥ १ ॥

श्रीधर्मेति ॥ हे 'सदायते !' सती-शोभना आयतिः-उत्तरकालो यस्य स तथा तस्य आमन्त्रणम्, हे श्रीधर्म ! अहं सदा जितं अनंततां च क्षिप्रं कर्तुं 'यते' यततो भवामि । किम्भूतस्य तव ? कर्मैव द्रुः-विस्तीर्णत्वाद् वृक्षः तत्र वारणस्य-हस्तिनः । पुनः किम्भूतस्य ? कृतं-विहितं द्वेषिणां-बाह्याभ्यन्तरवैरिणां वारणं निराकरणं येन स तथा तस्य ॥ १ ॥

गिरा त्रिजगदुद्धारं, भाऽसमाना ततान या ।
श्रिया जीयाद् जिनाली सा, भासमानाऽततानया ॥ २ ॥

गिरेति ॥ सा 'जिनाली' तीर्थङ्करश्रेणिः जीयात् । किम्भूता ? 'श्रिया' अतिशयप्रातिहार्यादिलक्ष्म्या 'भासमाना' शोभमाना । पुनः

१ अत्र "सदा" मनिशं तव 'स्तवं' स्तवनं कर्तुं०" इति सम्बन्धः ।

किम्भूता ? अततः–अविहितोऽनयः–अपन्यायो यया सा । सा का ? या 'गिरा' वाण्या कृत्वा 'त्रिजगदुद्धारं' त्रिभुवननिस्तारं 'ततान' चकार । किम्भूता ? भया–कान्त्या असमाना–निरुपमाना ॥ २ ॥

वचः पापहरं दत्त–सातं केवलिनोदितम् ।
भवे त्राणाय गहने, सातङ्के बलिनोदितम् ॥ ३ ॥

वचः पापेति ॥ 'केवलिना' तीर्थकृता 'उदितं' गदितं 'वचः' वचनं 'गहने' निबिडे 'भवे' चतुर्गतिरूपसंसारे 'त्राणाय' पतनप्रतिबन्धाय, अस्तु * इति शेषः * । भवे किम्भूते ? 'सातङ्के' सह आतङ्केन–जन्मजरामरणादिभयेन वर्त्तते यस्तस्मिन् । वचः किम्भूतम् ? 'पापहरं' दुरितनाशि । पुनः किम्भूतम् ? दत्तं सातं–सुखं येन तत् तथा । पुनः किं० ? बलिभिः–नैयायिकादिभिः तन्त्रान्तरीयैर्नोदितं–प्रेरितम् ॥ ३ ॥

दद्युः प्रसादाः प्रशस्याः, शक्तिमऽत्याजितादराः ।
तस्या यया द्विषां सर्वे, शक्तिमत्या जिता दराः ॥ ४ ॥

॥ इति श्रीधर्मजिनस्तुतिः ॥ १५ ॥

दद्युरिति ॥ तस्याः प्रशस्याः 'प्रसादाः' वरप्रदानलक्षणाः 'शक्तिं' सामर्थ्यं दद्युः । किम्भूताः ? अत्याजितः–अमोचित आदरः–पुनःपुनरुपायप्रवृत्तिलक्षणो यैस्ते । तस्याः कस्याः ? यया 'द्विषां' वैरिणां 'सर्वे' समस्ताः 'दराः' भयानि 'जिताः' निराकृताः । यया किम्भूतया ? शक्तिः–शस्त्रविशेषः सामर्थ्यं वाऽस्ति यस्याः सा शक्तिमती तया ॥ ४ ॥

॥ इति श्रीधर्मजिनस्तुतिविवरणम् ॥ १५ ॥

अनेन सम्यग्दृष्टित्वमाह । पुनः कि० ? 'सदसिः' सन्–शोभनः असिः खड्गो यस्याः सा तथा । पुनः कि० ? 'अक्षतिभा' नास्ति क्षतिः–दूषणं यस्यां सा अक्षतिः तादृशी भा–कान्तिर्यस्याः सा तथा । पुनः किं० ? 'सुरवा' सुष्ठु–शोभनः रवः–शब्दो यस्याः सा तथा । इय का ? या 'जगद्' विश्व 'रक्षति' पालयति, किम्भूता ? 'इता' प्राप्ता, कम् ? 'भासुरवाजिनं' देदीप्यमानतुरङ्गम् । पुनः कि०–? फलक च इषुश्च धनुश्च फलकेषुधनूंषि तानि धरति किंमणसा (?) ॥ ४ ॥

॥ इति श्रीअनन्तजिनस्तुतिविवरणम् ॥ १४ ॥

श्रीधर्म ! तव कर्मद्रु–वारणस्य सदायते ! ।
स्तवं कर्तुं कृतद्वेपि–वारणस्य सदा यते ॥ १ ॥

श्रीधर्मेति ॥ हे 'सदायते !' सती–शोभना आयतिः–उत्तरकालो यस्य स तथा तस्य आमन्त्रणम्, हे श्रीधर्म ! अहं सदा जितं अनंततां च क्षिप्र कर्तुं 'यते' उद्यतो भवामि । किम्भूतस्य तव ? कर्मैव द्रुः–विस्तीर्णत्वाद् वृक्षः तत्र वारणस्य–हस्तिनः । पुनः किम्भूतस्य ? कृत–विहित द्वेषिणां–बाह्याभ्यन्तरवैरिणां वारणं निराकरण येन स तथा तस्य ॥ १ ॥

गिरा त्रिजगदुद्धारं, भाऽसमाना ततान या ।
श्रिया जीयाद् जिनाली सा, भासमानाऽतनानया ॥ २ ॥

गिरेति ॥ सा 'जिनाली' तीर्थङ्करश्रेणिः जीयात् । किम्भूता ? 'श्रिया' अतिशयप्रातिहार्यादिलक्ष्म्या 'भासमाना' शोभमाना । पुनः

१ अत्र "सदा" अस्ति तव 'स्तव' स्तवन कर्तुं–" इति भाव्यम् ।

किम्भूता? अततः–अविहितोऽनयः–अपन्यायो यया सा। सा का? या 'गिरा' वाण्या कृत्वा 'त्रिजगदुद्धारं' त्रिभुवननिस्तारं 'ततान' चकार। किम्भूता? भया–कान्त्या असमाना–निरुपमाना॥ २॥

वचः पापहरं दत्त–सातं केवलिनोदितम्।
भवे त्राणाय गहने, सातङ्के वलिनोदितम्॥ ३॥

वचः पापेति॥ 'केवलिना' तीर्थकृता 'उदितं' गदितं 'वचः' वचनं 'गहने' निबिडे 'भवे' चतुर्गतिरूपसंसारे 'त्राणाय' पतनप्रतिबन्धाय, अस्तु * इति शेषः *। भवे किम्भूते? 'सातङ्के' सह आतङ्केन–जन्मजरामरणादिभयेन वर्त्तते यस्तस्मिन्। वचः किम्भूतम्? 'पापहरं' दुरितनाशि। पुनः किम्भूतम्? दत्तं सातं–सुखं येन तत् तथा। पुनः किं०? वलिभिः–नैयायिकादिभिः तत्रान्तरीयैर्नोदितं–प्रेरितम्॥ ३॥

दद्युः प्रसादाः प्रशस्याः, शक्तिमत्याजितादराः।
तस्या यया द्विषां सर्वे, शक्तिमत्या जिता दराः॥ ४॥

॥ इति श्रीधर्मजिनस्तुतिः॥ १५॥

दद्युरिति॥ तस्याः प्रशस्याः 'प्रसादाः' वरप्रदानलक्षणाः 'शक्तिं' सामर्थ्यं दद्युः। किम्भूताः? अत्याजितः–अमोचित आदरः–पुनःपुनरुपायप्रवृत्तिलक्षणो यैस्ते। तस्याः कस्याः? यया 'द्विषां' वैरिणां 'सर्वे' समस्ताः 'दराः' भयानि 'जिताः' निराकृताः। यया किम्भूतया? शक्तिः–शस्त्रविशेषः सामर्थ्यं वाऽस्ति यस्याः सा शक्तिमती तया॥ ४॥

॥ इति श्रीधर्मजिनस्तुतिविवरणम्॥ १५॥

अनेन सम्यग्दृष्टित्वमाह् । पुनः किं० ? 'सदसिः' सन्–शोभनः असिः खड्गो यस्याः सा तथा । पुनः किं० ? 'अक्षतिभा' नास्ति क्षतिः–दूषणं यस्यां सा अक्षतिः तादृशी भा–कान्तिर्यस्याः सा तथा । पुनः किं० ? 'सुरवा' सुष्ठु–शोभनः रवः–शब्दो यस्याः सा तथा । इयं का ? या 'जगद्' विश्वं 'रक्षति' पालयति, किम्भूता ? 'इता' प्राप्ता, कम् ? 'भासुरवाजिनं' देदीप्यमानतुरङ्गम् । पुनः किं०-? फलकं च इषुश्च धनुश्च फलकेषुधनूंषि तानि धरति किंमणसा (?) ॥ ४ ॥

॥ इति श्रीअनन्तजिनस्तुतिविवरणम् ॥ १४ ॥

श्रीधर्म ! तव कर्मद्रु–वारणस्य सदायते ![1] ।
स्तवं कर्तुं कृतद्वेषि–वारणस्य सदा यते ॥ १ ॥

श्रीधर्मेति ॥ हे 'सदायते !' सती–शोभना आयतिः–उत्तरकालो यस्य स तथा तस्य आमन्त्रणम्, हे श्रीधर्म ! अहं सदा जितं अनंवतां च क्षिप्रं कर्तुं 'यते' उद्यतो भवामि । किम्भूतस्य तव ? कर्मैव द्रुः–विस्तीर्णत्वाद् वृक्षः तत्र वारणस्य–हस्तिनः । पुनः किम्भूतस्य ? कृतं–विहितं द्वेषिणां–बाह्याभ्यन्तरवैरिणां वारणं निराकरणं येन स तथा तस्य ॥ १ ॥

गिरा त्रिजगदुद्धारं, भाऽसमाना ततान या ।
श्रिया जीयाद् जिनाली सा, भासमानाऽततानया ॥ २ ॥

गिरेति ॥ सा 'जिनाली' तीर्थङ्करश्रेणिः जीयात् । किम्भूता ? 'श्रिया' अतिशयप्रातिहार्यादिलक्ष्म्या 'भासमाना' शोभमाना । पुनः

१ अत्र "सदा" अनिशं तव 'स्तवं' स्तवनं कर्तुं०" इति अन्वयः ।

किम्भूता ? अततः–अविहितोऽनयः–अपन्यायो यया सा । सा का ? या 'गिरा' वाण्या कृत्वा 'त्रिजगदुद्धारं' त्रिभुवननिस्तारं 'ततान' चकार । किम्भूता ? भया–कान्त्या असमाना–निरुपमाना ॥ २ ॥

वचः पापहरं दत्त–सातं केवलिनोदितम् ।
भवे त्राणाय गहने, सातङ्के बलिनोदितम् ॥ ३ ॥

वचः पापेति ॥ 'केवलिना' तीर्थकृता 'उदितं' गदितं 'वचः' वचनं 'गहने' निबिडे 'भवे' चतुर्गतिरूपसंसारे 'त्राणाय' पतनप्रतिबन्धाय, अस्तु * इति शेषः * । भवे किम्भूते ? 'सातङ्के' सह आतङ्केन–जन्मजरामरणादिभयेन वर्त्तते यस्तस्मिन् । वचः किम्भूतम् ? 'पापहरं' दुरितनाशि । पुनः किम्भूतम् ? दत्तं सातं–सुखं येन तत् तथा । पुनः किं० ? बलिभिः–नैयायिकादिभिः तत्रान्तरीयैर्नोदितं–प्रेरितम् ॥ ३ ॥

दद्युः प्रसादाः प्रज्ञस्याः, शक्तिमऽत्याजितादराः ।
तस्या यया द्विषां सर्वे, शक्तिमत्या जिता दराः ॥ ४ ॥

॥ इति श्रीधर्मजिनस्तुतिः ॥ १५ ॥

दद्युरिति ॥ तस्याः प्रज्ञस्याः 'प्रसादाः' वरप्रदानलक्षणाः शक्तिं' सामर्थ्यं दद्युः । किम्भूताः ? अत्याजितः–अमोचित आदरः–पुनःपुनरुपायप्रवृत्तिलक्षणो यैस्ते । तस्याः कस्याः ? यया 'द्विषां' वैरिणां 'सर्वे' समस्ताः 'दराः' भयानि 'जिताः' निराकृताः । यया किम्भूतया ? शक्तिः–शस्त्रविशेषः सामर्थ्यं वाऽस्ति यस्याः सा शक्तिमती तया ॥ ४ ॥

॥ इति श्रीधर्मजिनस्तुतिविवरणम् ॥ १५ ॥

अस्याभूद् व्रतघाति नातिरुचिरं यच्छ्रेयसे सेवना-
दक्षोदं भरतस्य वैभवमयं साराजितं तन्वतः ।
लिप्सो ! शान्तिजिनस्य शासनरुचिं सौख्यं जयद् ब्रह्म भोः!,
दक्षोऽदम्भरतस्य वै भवमयं साराजितं तन्वऽतः ॥१॥

अस्येति ॥ भोः 'ब्रह्म' मोक्ष 'लिप्सो !' लब्धुमिच्छो ! त्वम् अतः कारणात् शान्तिजिनस्य 'शासनरुचिं' प्रवचनश्रद्धां 'तनु' विधेहि । ब्रह्म किं कुर्वत् ? 'जयत्' अतिशयानम्, किम् ? सौख्यम्, कीदृशम् ? 'भवमयं' मयटो विकारार्थत्वात् कर्मशक्तितिरस्कृतशक्तिकस्यात्मनः संसारानुभावोपनीतेन्द्रियेष्टविषयसम्बन्धविकाररूपमित्यर्थः । पुन॰ किं० ? सया-चक्रवर्त्यादिलक्ष्म्या राजित-शोभितम् । शान्तिजिनस्य किम्भूतस्य ? 'वै' निश्चितम् 'अदम्भरतस्य' मायामैथुनरहितस्य । स किंरूपः ? 'दक्षः' निपुणः । अतः कुतः ? 'यत्' यस्मात् कारणात् 'अस्य' शान्तेः 'भरतस्य' षट्खण्डमुखक्षेत्रस्य 'वैभवं' प्रभुत्वं 'व्रतघाति' चरण(मतिगति)प्रतिबन्धि नाभूत् । अयं हि भर्त्ते अय......परमैश्वर्यस्यो सार्वभौमपदवीम्, अक्लिष्टेन मनसा चोपभुज्य भोगान्, उचिते च समये तृणवद् अपहाय तान्, उद्धर्तुं संसारपङ्कादिमं जगत्, प्रवर्त्तयितुं धर्मतीर्थं प्र[व]व्राज राजन्यमौलिमालार्चितचरणकमल इति युक्तमस्य भजनम् । वैभवं किम्भूतम् ? 'अतिरुचिरम्' अतिमनोहरम् । अस्य किं कुर्वतः ? 'सेवनात्' भजनात् देवैः 'श्रेयसे' कल्याणार्थम्

---

१ अक्षरचतुष्टयमेतदधिकमाभाति ॥

'अक्षोदं' क्षोदरहितम् 'अयम्' इष्टदैवं तन्वतः । अयं किम्भूतम् ? सारेण—रलेन अजितं—अपराजितम् ॥ १ ॥

येषां चेतसि निर्मले शमवतां मोक्षाध्वनो दीपिका,
प्रज्ञालाभवतां क्रिया सुरुचिताऽरं भावनाभोगतः ।
ते श्रीमज्जिनपुङ्गवा हृतभया नित्यं विरक्ताः सुखं,
प्रज्ञाला भवतां क्रियासुरुचितारम्भावना भोगतः ॥२॥

येषामिति ॥ ते श्रीमज्जिनपुङ्गवाः 'भवतां' युष्माकं सुखं क्रियासुः । किम्भूताः ? हृतं भयं यैस्ते तथा । पुनः किं० ? 'नित्यं' सदा 'भोगतः' विषयोपभोगात् 'विरक्ताः' निवृत्ताः । पुनः किं० ? 'प्रज्ञालाः' बुद्धिमन्तः । पुनः किं० ? उचितः—मोक्षसाधक आरम्भः—उद्यमो येषां ते उचितारम्भाः तेषामवनं—रक्षणं येभ्यस्ते तथा । ते के ? येषां 'चेतसि' हृदये 'क्रिया' सदनुष्ठानात्मिका 'सुरुचिता' अतिशयेन रुचिमुपगता । कस्मात् ? भावनानाम्—अहिंसादिव्रतसम्बन्धिनीनां ध्यानभूमिकाभूतवासनानां * वा * य आभोगः—प्रपञ्चः तस्मात् । चेतसि किम्भूते ? 'अरम्' अत्यर्थं 'निर्मले' अश्रद्धादिमलरहिते । येषां किम्भूतानाम् ? 'शमवताम्' उपशमशालिनाम् । पुनः किम्भूतानाम् ? प्रज्ञायाः—मार्गानुसारिज्ञानस्य यो लाभः—प्राप्तिस्तद्वताम्, अनेनं ज्ञानक्रियासमुच्चयमाह । क्रिया किम्भूता ? 'मोक्षाध्वनः' मोक्षमार्गस्य दीपिका, तत्प्रकाशकत्वादिति भावः ॥ २ ॥

---

१ "क्रिया सुरुचिता" "प्रज्ञालाभवताम्" इत्यनेन इत्यर्थं ॥

मिथ्यादृष्टिमतं यतो ध्रुवमभूत् प्रध्वस्तदोषात् क्षिता–
वाचारोचितमानमारयमदम्भावारिताऽपाप ! हे ! ।
तं सिद्धान्तमभङ्गभङ्गकलितं श्रद्धाय चित्ते निजे,
वाचा रोचित ! मानमारयमदं भावारितापापहे ॥ ३ ॥

मिथ्येति ॥ 'हे अपाप !' पापरहित !, हे 'अदम्भावारित !' अदम्भैः–अकपटैः अवारितः–अनिषिद्धप्रवृत्तिकः यथावद् मार्गानुयायीत्यर्थः तस्यामन्त्रणम्, हे 'रोचित !' अङ्गीकृत !, कया ? 'वाचा' सरस्वत्या, त्वं तं सिद्धान्तं 'निजे' स्वीये चित्ते 'श्रद्धाय' श्रद्धायामुपगम्य 'आनम' नमस्कुरु । किम्भूतम् ? अभङ्गाः–भङ्गरहिता ये भङ्गाः–विकल्पविशेषास्तैः कलितं–शोभितम् । पुनः किं० ? मानः–अहङ्कारो मारः–कामो यमश्च–मृत्युः तान् द्यति–खण्डयति यः स तथा तम् । पुनः किं० ? आचारेण–सदनुष्ठानेन उचितम्–अनुरूपम् । चित्ते किम्भूते ? भावारीणां–क्रोधादिकषायाणां, तापः–दुःखानुभवलक्षणः तम् अपहन्ति यत् तत् तथा तस्मिन् । तं यम् ? 'यतः' यस्मात् 'क्षितौ' पृथिव्यां 'ध्रुवं' निश्चितं 'मिथ्यादृष्टिमतं' कपिलादिशास्त्ररूपम् 'अरयम्' अप्रसरमभूत् । यतः किम्भूतात् ? प्रध्वस्तः–विनाशितः दोषः–अज्ञानादिः येन (इष्टतया) तस्मात् ॥३॥

शत्रूणां घनधैर्यनिर्जितभया त्वां शासनस्वामिनी,
पातादानतमानवासुरहिता रुच्या सुमुद्राजिषु ।

---

१ व्याख्यान्तरमस्यावचूर्याम्–"'वा' दूरगे, 'चरो !' अभिराम ! 'चितमानमारयमद' चितान्–पुष्टान् मानादीन् द्यतीति वा ।" २ अक्षरपञ्चदशभिरनिष्ट प्रतिभाते ॥

श्रीशान्तिक्रमयुग्मसेवनरता नित्यं हतव्यग्रता–
पातादानतमा नवासु रहिताऽरुच्या सुमुद्राऽऽजिषु ॥

॥ इति श्रीशान्तिजिनस्तुतिः ॥ १६ ॥

शत्रूणामिति ॥ हे 'सुमुद्र !' सुष्ठु–शोभना मुद्रा यस्य तस्या–ऽऽमन्त्रणम्, 'शासनस्वामिनी' शासनदेवता त्वां 'पातात्' रक्षतात् । किम्भूता ? 'शत्रूणां' वैरिणाम् 'आजिषु' संग्रामेषु घनेन–बहलेन धैर्येण–धीरिमगुणेन निर्जितं भयं यया सा । पुनः किं० ? आ–समन्तात् नताः–प्रणता ये मानवाः–मनुष्या असुराश्च–भवनपतिविशेषास्तेषां हिता–अनुकूला । पुनः किं० ? सुष्ठु–शोभना मुद्–आनन्दो येषां ते सुमुदः तेषां राजिषु–श्रेणिषु मध्ये 'रुच्या' मनोहरा । पुनः किं० ? 'नित्यं' निरन्तरं श्रीशान्तेः–श्रीशान्तिनाथस्य यत् क्रमयुगं–चरणयुगलं तस्य यत् सेवनं–पर्युपासनं तत्र रता–सक्ता । पुनः किं० ? हतानि–निराकृतानि व्यग्रता–आकुलत्वलक्षणा पातः–मार्गच्यवनलक्षणः अदानं च–कृपणतालक्षणं तान्येव तमांसि–ध्वान्तानि यया सा तथा। आजिषु किम्भूतासु ? 'नवासु' प्रसमासु । पुनः किम्भूता ? 'अरुच्या' अनभिलाषेण 'रहिता' वियुता ॥ ४ ॥

॥ इति श्रीशान्तिजिनस्तुतिविवरणम् ॥ १६ ॥

स जयति जिनकुन्थुर्लोभसंक्षोभहीनो,
महति सुरमणीनां वैभवे सन्निधाने ।
इह भवति विना यं मानसं हन्त केषा–
महति सुरमणीनां वै भये सन्निधाने ॥ १ ॥

मिथ्यादृष्टिमतं यतो ध्रुवमभूत् प्रध्वस्तदोषात् क्षिता-
वाचारोचितमानमारयमदम्भावारिताऽपाप ! हे ! ।
तं सिद्धान्तमभङ्गभङ्गकलितं श्रद्धाय चित्ते निजे,
वाचा रोचित ! मानमारयमदं भावारितापापहे ॥ ३ ॥

मिथ्येति ॥ 'हे अपाप !' पापरहित !, हे 'अदम्भावारित !' अदम्भैः—अकपटैः अवारितः—अनिषिद्धप्रवृत्तिकः यथावद् मार्गानुयायीत्यर्थः तस्यामन्त्रणम्, हे 'रोचित !' अङ्गीकृत !, कया ? 'वाचा' सरस्वत्या, त्वं तं सिद्धान्तं 'निजे' स्वीये चित्ते 'श्रद्धाय' श्रद्धायामुपगम्य 'आनम' नमस्कुरु । किम्भूतम् ? अभङ्गाः—भङ्गरहिता ये भङ्गाः—विकल्पविशेषास्तैः कलितं—शोभितम् । पुनः किं० ? मानः—अहङ्कारो मारः—कामो यमश्च—मृत्युः तान् द्यति—खण्डयति यः स तथा तम् । पुनः किं० ? आचारेण—सदनुष्ठानेन उचितम्—अनुरूपम् । चित्ते किम्भूते ? भावारीणां—क्रोधादिकषायाणां, तापः—दुःखानुभवलक्षणः तम् अपघ्नन्ति यत् तत् तथा तस्मिन् । तं कम् ? 'यतः' यस्मात् 'क्षितौ' पृथिव्यां 'ध्रुवं' निश्चितं 'मिथ्यादृष्टिमतं' कणादादिशास्त्ररूपम् 'अरयम्' अप्रसरमभूत् । यतः किम्भूतात् ? प्रध्वस्तः—विनाशितः दोषः—अज्ञानादिः येन (इत्थंतया) तस्मात् ॥३॥

शत्रूणां घनधैर्यनिर्जितभया त्वां शासनस्वामिनी,
पातादानतमानवासुरहिता रुच्या सुमुद्राजिषु ।

१ व्याख्यान्तरमस्यावचूर्याम्—"'वा' पूरणे, 'चरो !' अभिराम ! चित्तमानमारयमदं' चितान्-उद्यन् मानादीन् यच्छीलेन ।" २ अस्यावचूरिपदम्-भिन्नमिव प्रतिभाति ॥

श्रीशान्तिक्रमयुग्मसेवनरता नित्यं हृतव्यग्रता–
पातादानतमा नवासु रहिताऽरुच्या सुमुद्राऽऽजिषु ॥

॥ इति श्रीशान्तिजिनस्तुतिः ॥ १६ ॥

शत्रूणामिति ॥ हे 'सुमुद्र !' सुष्ठु–शोभना मुद्रा यस्य तस्या–ऽऽमन्त्रणम्, 'शासनस्वामिनी' शासनदेवता त्वा 'पाताद्' रक्षतात् । किम्भूता ? 'शत्रूणा' वैरिणाम् 'आजिषु' सग्रामेषु घनेन–बहलेन धैर्येण–धीरिमगुणेन निर्जितं भयं यया सा । पुनः किं० ? आ–समन्तात् नताः–प्रणता ये मानवाः–मनुष्या असुराश्च–भवनपतिविशेषास्तेषां हिता–अनुकूला । पुनः किं० ? सुष्ठु–शोभना मुद्–आनन्दो येषां ते सुमुदः तेषां राजिषु–श्रेणिषु मध्ये 'रुच्या' मनोहरा । पुनः किं० ? 'नित्य' निरन्तरं श्रीशान्तेः–श्रीशान्तिनाथस्य यत् क्रमयुग–चरणयुगलं तस्य यत् सेवनं–पर्युपासनं तत्र रता–सक्ता । पुन. किं० ? हृतानि–निराकृतानि व्यग्रता–आकुलत्वलक्षणा पातः–मार्गच्यवनलक्षण. अदान च–कृपणतालक्षणं तान्येव तमांसि–ध्वान्तानि यया सा तथा । आजिषु किम्भूतासु ? 'नवासु' प्रत्यग्रासु । पुनः किम्भूता ? 'अरुच्या' अनभिलाषेण 'रहिता' वियुता ॥ ४ ॥

॥ इति श्रीशान्तिजिनस्तुतिविवरणम् ॥ १६ ॥

स जयति जिनकुन्थुर्लोभसङ्क्षोभहीनो,
महति सुरमणीनां वैभवे सन्निधाने ।
इह भवति विना यं मानसं हन्त केषा–
महति सुरमणीनां वै भवे सन्निधाने ॥ १ ॥

मिथ्यादृष्टिमतं यतो ध्रुवमभूत् प्रध्वस्तदोषात् क्षिता–
वाचारोचितमानमारयमदम्भावारिताऽपाप ! हे ! ।
तं सिद्धान्तमभङ्गभङ्गकलितं श्रद्धाय चित्ते निजे,
वाचा रोचित ! मानमारयमदं भावारितापापहे ॥ ३ ॥

मिथ्येति ॥ 'हे अपाप !' पापरहित !, हे 'अदम्भावारित !' अदम्भैः–अकपटैः अवारितः–अनिषिद्धप्रवृत्तिकः यथावद् मार्गानुयायीत्यर्थः तस्यामन्त्रणम्, हे 'रोचित !' अङ्गीकृत !, कया ? 'वाचा' सरस्वत्या, त्वं तं सिद्धान्तं 'निजे' स्वीये चित्ते 'श्रद्धाय' श्रद्धयाभ्युपगम्य 'आनम' नमस्कुरु । किम्भूतम् ? अभङ्गाः–भङ्गरहिता ये भङ्गाः–विकल्पविशेषास्तैः कलितं–शोभितम् । पुनः किं० ? मानः–अहङ्कारो मारः–कामो यमश्च–मृत्युः तान् यति–खण्डयति यः स तथा तम् । पुनः किं० ? आचारेण–सदनुष्ठानेन उचितम्–अनुरूपम् । चित्ते किम्भूते ? भावारीणां–क्रोधादिकषायाणां तापः–दुःखानुभवलक्षणः तम् अपहन्ति यत् तत् तथा तस्मिन् । तं कम् ? 'यतः' यस्मात् 'क्षितौ' पृथिव्यां 'ध्रुवं' निश्चितं 'मिथ्यादृष्टिमतं' कणादादिशास्त्ररूपम् 'अरयम्' अप्रसरमभूत् । यतः किम्भूतात् ? प्रध्वस्तः–विनाशितः दोषः–अज्ञानादिः येन (स्वेनतया) तस्मात् ॥ ३ ॥

शत्रूणां घनधैर्यनिर्जितभया त्वां शासनस्वामिनी,
पातादानतमानवासुरहिता रुच्या सुमुद्रागिदु ।

१ व्याख्यान्तरमस्यावचूर्याम्–"'वा' पूर्णे, 'च रो !' अभिराम ! 'वितमनमारयमद' वितान्–पुष्टान् मानादीन् यदर्शिवा ।" २ अत्राऽपशुद्धमधिकमिव प्रतिभाति ॥

श्रीशान्तिक्रमयुग्मसेवनरता नित्यं हतव्यग्रता–
पातादानतमा नगासु रहिताऽरुच्या सुमुद्राऽऽजिषु ॥

॥ इति श्रीशान्तिजिनस्तुतिः ॥ १६ ॥

शत्रूणामिति ॥ हे 'सुमुद्र !' सुष्ठु–शोभना मुद्रा यस्य तस्या–ऽऽमन्त्रणम्, 'शासनस्वामिनी' शासनदेवता त्वां 'पातात्' रक्ष-तात् । किम्भूता ? 'शत्रूणां' वैरिणाम् 'आजिषु' संग्रामेषु घनेन–बहलेन धैर्येण–धीरिमगुणेन निर्जितं भयं यया सा । पुनः किं० ? आ–समन्तात् नताः–प्रणता ये मानवाः–मनुष्या असुराश्च–भवनपतिविशेषास्तेषां हिता–अनुकूला । पुनः कि० ? सुष्ठु–शोभना मुद्–आनन्दो येषां ते सुमुदः तेषां राजिषु–श्रेणिषु मध्ये 'रुच्या' मनोहरा। पुनः कि० ? 'नित्यं' निरन्तरं श्रीशान्तेः–श्रीशान्तिनाथस्य यत् क्रमयुगं–चरणयुगलं तस्य यत् सेवनं–पर्युपासनं तत्र रता–सक्ता । पुनः कि० ? हतानि–निराकृतानि व्यग्रता–आकुलत्वलक्षणा पातः–मार्गच्यवनलक्षणः अदानं च–कृपणतालक्षणं तान्येव तमांसि–ध्वान्तानि यया सा तथा। आजिषु किम्भूतासु ? 'नगासु' मत्तमासु । पुनः किम्भूता ? 'अरुच्या' अनभिलाषेण 'रहिता' नियुता ॥ ४ ॥

॥ इति श्रीशान्तिजिनस्तुतिविवरणम् ॥ १६ ॥

स जयति जिनकुन्थुर्लोभसंक्षोभहीनो,
महति सुरमगीनां यं भवे सन्निधाने ।
इह भवति विना यं मानमं हन्त केषा–
महति सुरमगीनां यैभवे सन्निधाने ॥ १ ॥

स इति ॥ स जिनकुन्थुः 'जयति' सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते। किम्भूतः ? 'महति' विमले 'सुरमणीनां' देवताधिष्ठितानां चतुर्दशरत्नानां 'वैभवे' विभुत्वे लोभसंक्षोभेण—मूर्छाविप्लवेन हीनः—रहितः, किम्भूते ? सन्ति—शोभनानि निधानानि—महापद्मादीनि यत्र तत् तथा तस्मिन् । स कः ? यं विना इह 'भवे' संसारे 'वै' निश्चितं 'सुरमणीनां' शोभनस्त्रीणां 'सन्निधाने' अन्तिके * 'हन्त' इति कोमलामन्त्रणे, केषां 'मानसं' चित्तम् 'अहति' बाधारहितम् ? न * केषामपीत्यर्थः ॥ १ ॥

जयति जिनततिः सा विश्वमाधातुमीशाऽ-
मदयतिमहिताऽरं किन्न रीणामपाशम् ।
विलसितमपि यस्याः हन्त नैव स्म चित्तं,
मदयति महि तारं किन्नरीणामपाशम् ॥ २ ॥

जयतीति ॥ सा 'जिनततिः' तीर्थकरश्रेणिर्जयति। किम्भूता ? 'विश्वं' जगत् 'रीणाऽऽमपाशं' क्षीणरोगपाशम् 'आधातुं' कर्तुं किं 'न ईशा' न समर्था ? अपि तु समर्थैवेत्यर्थः । पुनः किं० ? 'अरम्' अत्यर्थम् * अमदाः * अनहङ्कारा ये यतयः—साधवस्तैः महिताः—भावस्तवेन पूजिता । सा का ? यस्याः 'चित्तं' हृदयं किन्नरीणामपि 'विलसितं' गतस्मितनृत्यादिचेष्टितं 'हन्त' इति कोमलामन्त्रणे नैव 'मदयति स्म' रुचिपरं कुरुते स्म । किम्भूतम् ? अप—गता आशा यस्मात् तत्, विशीर्णविषयसुविचाराभिलेः । पुनः किं० ? 'महि' वत्सलंयु । पुनः किं० ? 'तारं' महोदारम् ॥ २ ॥

अवतु गदितमाप्तैस्त्वा मतं जन्मसिन्धौ,
परमतरणहेतु च्छायया भासमानैः ।
विविधनयसमूहस्थानसङ्गत्यपास्ता-
परमतरण ! हेऽतुच्छायया भाऽसमानैः ॥ ३ ॥

अवत्विति ॥ 'हे विविध० रण !' विविधाः-विचित्रा ये नयाः-नैगमादयः तेषां समूहः-समुदायः तस्य या स्थानसङ्गतिः-औचित्येन योजनं तया अपास्तः-निराकृतोऽपरेषां-नैयायिकादीनां मतमेव-दर्शनमेव रणः-संग्रामो येन स तथा तस्य आमन्त्रणम्, 'आप्तैः' तीर्थकरैः 'गदितम्' अभिहितं मतं त्वा 'अवतु' रक्षतु । किम्भूतम् ? 'जन्मसिन्धौ' संसारसमुद्रे 'परमतरणहेतु' अतिशयितपारगमननिबन्धनम् । आप्तैः किम्भूतैः ? 'भासमानैः' * 'शोभमानैः' *, कया ? 'छायया' शोभया, किम्भूतया ? अतुच्छः-विपुल आयः-लाभो यस्यां यस्याः सकाशाद्वा सा तथा तया । * पुनः * आप्तैः किम्भूतैः ? भया-कान्त्या असमानैः-निरुपमानैः ॥ ३ ॥

कलितमदनलीलाऽधिष्ठिता चारु कान्तात्
सदसिरुचितमाराद् धाम हन्तापकारम् ।
हरतु पुरुपदत्ता तन्वती शर्म पुंसां,
सदसि रुचितमाऽऽराद्धाऽमहं तापकारम् ॥ ४ ॥

॥ इति श्रीकुन्थुजिनस्तुतिः ॥ १७ ॥

कलितेति ॥ पुरुपदत्ता 'हन्त' इति कोमलामन्त्रणे 'पुंसां' पुरुषाणां 'सदसि' समायाम् 'अपकारं' परलोकापायलक्षणमपराधं

स इति ॥ स जिनकुन्थुः 'जयति' सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते। किम्भूतः ? 'महति' विमले 'सुरमणीनां' देवताधिष्ठितानां चतुर्दशरत्नानां 'वैभवे' विभुत्वे लोभसक्षोभेण–मूर्छाविप्लुवेन हीनः–रहितः, किम्भूते ? सन्ति–शोभनानि निधानानि–महापद्मादीनि यत्र तत् तथा तस्मिन् । स कः ? यं विना इह 'भवे' संसारे 'वै' निश्चितं 'सुरमणीनां' शोभनस्त्रीणां 'सन्निधाने' अन्तिके * 'हन्त' इति कोमलामन्त्रणे, केषां 'मानसं' चित्तम् 'अहति' बाधारहितम् ? न * केषामपीत्यर्थः ॥ १ ॥

जयति जिनततिः सा विश्वमाधातुमीशाऽ–
मदयतिमहिताऽरं किन्न रीणामपाशम् ।
विलसितमपि यस्याः हन्त नैव स्म चित्तं,
मदयति महि तारं किन्नरीणामपाशम् ॥ २ ॥

जयतीति ॥ सा 'जिनततिः' तीर्थकरश्रेणिर्जयति। किम्भूता ? 'विश्वं' जगत् 'रीणाऽऽमपाशं' क्षीणरोगपाशम् 'आधातुं' कर्तुं कि 'न ईशा' न समर्था ? अपि तु समर्थैवेत्यर्थः । पुनः किं० ? 'अरम्' अत्यर्थम् * अमदाः * अनहङ्कारा ये यतयः–साधवस्तैः महिताः–भावस्तवेन पूजिता । सा का ? यस्याः 'चित्त' हृदयं किन्नरीणामपि 'विलसितं' गतस्मितनृत्यादिचेष्टितं 'हन्त' इति कोमलामन्त्रणे नैव 'मदयति स्म' रुचिकारं कुरुते स्म । किम्भूतम् ? अप–गता आशा यस्मात् तत्, चिकीर्षितप्रभुविकारानिदं । पुनः किं० ? 'महि' उत्सवेषु । पुनः किं० ? 'तार' महोदारम् ॥ २ ॥

अवतु गदितमाप्तैस्त्वा मतं जन्मसिन्धौ,
परमतरणहेतु च्छायया भासमानैः ।
विविधनयसमूहस्थानसङ्गत्यपास्ता–
परमतरण ! हेऽतुच्छायया भाऽसमानैः ॥ ३ ॥

अवत्विति ॥ 'हे विविध० रण !' विविधाः–विचित्रा ये नयाः–नैगमादयः तेषां समूहः–समुदायः तस्य या स्थानसङ्गतिः–औचित्येन योजनं तया अपास्तः–निराकृतोऽपरेषां–नैयायिकादीनां मतमेव–दर्शनमेव रणः–संग्रामो येन स तथा तस्य आमन्त्रणम्, 'आप्तैः' तीर्थकरैः 'गदितम्' अभिहितं मतं त्वा 'अवतु' रक्षतु । किम्भूतम् ? 'जन्मसिन्धौ' संसारसमुद्रे 'परमतरणहेतु' अतिशयितपारगमननिबन्धनम् । आप्तैः किम्भूतैः ? 'भासमानैः' * 'शोभमानैः' *, कया ? 'छायया' शोभया, किम्भूतया ? अतुच्छः–विपुल आयः–लाभो यस्यां सत्यां यस्याः सकाशाद्वा सा तथा तया । * पुनः * आप्तैः किम्भूतैः ? भया–कान्त्या असमानैः–निरुपमानैः ॥ ३ ॥

कलितमदनलीलाऽधिष्ठिता चारु कान्तात्
सदसिरुचितमाराद् धाम हन्तापकारम् ।
हरतु पुरुपदत्ता तन्वती शर्म पुंसां,
सदसि रुचितमाऽऽराद्धाऽमहं तापकारम् ॥ ४ ॥

॥ इति श्रीकुन्थुजिनस्तुतिः ॥ १७ ॥

कलितेति ॥ पुरुपदत्ता 'हन्त' इति कोमलामन्त्रणे 'पुंसां' पुरुषाणां 'सदसि' सभायाम् 'अपकारं' परलोकापायलक्षणमपराधं

'हरतु' अपनयतु। किम्भूता ? कलिता–परिशीलिता मदनलीला–कामक्रीडा यया सा तथा, कस्मात् ? 'कान्तात्' रमणात्, किम्भूतात् ? उचितः–योग्यो मारः–कन्दर्पो यस्य स तथा तस्मात्। पुनः किम्भूता ? 'अधिष्ठिता' आश्रिता, किम् ? 'धाम' गृहम्, किम्भूतम् ? 'चारु' मनोहरम्। पुनः किंविशिष्टा ? सन्–शोभनोऽसिः–खड्गो यस्याः सा तथा। किं कुर्वती ? तन्वती, किम् ? 'शर्म' सुखम्, किम्भूतम् ? 'रुचितम्' रुचिविषयम्। किम्भूता ? 'आराद्धा' कृतभजना। अपकारः किं० ? 'अमहं' नास्ति महः–उत्सवो यत्र यस्माद् वा तम्, पुनः किं० ? तापं कारयतीति तापकारः तम् ॥ ४ ॥

॥ इति श्रीकुन्थुजिनस्तुतिविवरणम् ॥ १७ ॥

हरन्तं संस्तवीम्यहं त्वामरजिन ! सततं भवोद्भवा–
मानमदसुरसार्थवार्चयम ! दम्भरताधिपापदम् ।
विगणितचक्रवर्तिवैभवमुद्दामपराक्रमं हता–
मानमद ! सुरसार्थवार्च यमदं भरताधिपाऽऽपदम् ॥ १ ॥

हरन्तमिति ॥ हे 'आन० यम !' आ–समन्तात् नमन्तः–प्रणामं कुर्वन्तोऽसुरसार्थाः–दानवगणाः यार्चयमाः–अमणाम यस्य स तथा तस्य आमन्त्रणम्, हे 'हतामानमद !' हतः–निराकृतः अमानः–अपरिमाणो मदः–अहङ्कारो येन स तथा तस्यामन्त्रणम्, हे 'भरताधिप !' भारतक्षेत्रप्रभो ! हे अरजिन ! 'भवोद्भवां' संसारोत्पन्नाम् 'आपदं' विपत्तिं 'हरन्तम्' अपनयन्तं त्वामहं 'सततं' निरन्तरं संस्तवीमि। त्वां किं० ? दम्भः–कपटं रतं–निधुवनम्

रणस्य–संग्रामस्य अधिकारो यस्मादीदृशम्, उदिता–उत्पन्नाऽऽपत् च यस्मात् तादृशम्, 'भीमभवं' भीषणसंसारं 'हरन्तं' हेतुच्छेदादपनयन्तम् ॥ २ ॥

भीमभवोदधेर्भुवनमेव यतो विधुशुभ्रमञ्जसा–
 ऽभवदऽवतो यशोऽभितरणेन न मादितं नयमितं हि तम्।
जिनपसमयमनन्तभङ्गं जन ! दर्शनशुद्धचेतसा,
 भवदवतोय ! शोभित ! रणेन नमादितं न यमितं हितम् ॥३

भीमेति ॥ हे 'शोभित !' भासित !, केन ? 'दर्शनशुद्धचेतसा' सम्यक्त्वनिर्मलहृदयेन; हे 'भवदवतोय !' संसारदावानलजल !, हे 'जन' हे प्राणिन् ! 'हि' निश्चितं तं 'जिनपसमयं' भगवत्सिद्धान्तम् * 'अञ्जसा एव' शीघ्रमेव * 'नम' नमस्कुरु। किम्भूतम् ? 'न' नैव 'मादितं' जातोन्मादम् । पुनः किं० ? 'नयं' नैगमादिकं शुद्धपथं वा 'इतं' प्राप्तम् । पुनः किं० ? अनन्ताः–अपरिमिताः भङ्गाः–विकल्पविशेषा यत्र स तथा तम् । पुनः किं० ? 'रणेन' संग्रामेन 'न यमितं' न बद्धम् । पुनः किं० ? 'अदितम्' अखण्डितम् । पुनः किं० 'हितं' पथ्यावहम् । तं यम् ? 'यतः' यस्मात् 'भीमभवोदधेः' भीषणसंसारसमुद्रस्य 'अभितरणेन' सामस्त्यात् तरणेन 'विधुशुभ्रं' चन्द्रोज्ज्वलं यशः 'अभवत्' अजनि । यतः किं कुर्वतः ? भुवनम् *'अवतः'* रक्षतः ॥ ३ ॥

चक्रधरा करालपरघातबलिष्ठमधिष्ठिता प्रभा–
 सुरविनतातनुभञ्जपृष्ठमनुद्दितापदरं गतारपाक् ।

दलयतु दुष्कृतं जिनवरागमभक्तिभृतामनारतं,
सुरविनता तनुभवपृष्ठमनु दितापदरङ्गतारवाक् ॥ ४ ॥

॥ इति श्रीअरनाथस्तुतिः ॥ १८ ॥

चक्रधरेति ॥ 'चक्रधरा' चक्रेश्वरी 'जिनवरागमभक्तिभृताम्' अर्हच्छासनभक्तानाम् 'अनारतम्' निरन्तरं 'दुष्कृतं' पापं 'दलयतु' खण्डयतु । किम्भूता ? 'अधिष्ठिता' स्थिता, किम् ? प्रभासुरः–देदीप्यमानो यो विनतातनुभवः–गरुडः तस्य पृष्ठम्, किम्भूतम् ? कराला–भीषणा ये परे–वैरिणः तेषां घातेन–हननेन बलिष्ठ–अतिशयितबलवत् । चक्रधरा किम्भूता ? अनुदिता–अनुत्पन्ना आपद्–विपत्तिर्यस्याः सा । * पुनः किं० ? 'अरम्' अत्यर्थं गता आरवाग्–शास्त्रवाणी यस्याः सा । * पुनः किं० ? सुरैः–देवैः विनता–नमस्कृता । पुनः किं० ? 'तनुभवपृष्ठं' स्वल्पभवशेषं स्वल्पभवप्रश्नं वा 'अनु' लक्षीकृत्य दितापदऽरङ्गा–खण्डितविपद्रङ्गविरहा तारा–मनोहरा च वाग् यस्याः सा तथा, प्रतनुकर्मणामभिलषितफलदत्वाद् भगवतः समीपे तद्भवप्रश्नपूर्वं तत्संदिहापनोदाद् वेति भावः॥४॥

॥ इति श्रीअरनाथस्तुतिविवरणम् ॥ १८ ॥

महोदयं प्रवितनु मल्लिनाथ ! मेऽ–
घनाघ ! नोदितपरमोहमान ! सः ।
अभूर्महाव्रतघनकाननेषु यो,
घनाघनोऽदितपरमोहमानसः ॥ १ ॥

---

१ अत्र 'पृष्ठ–पृष्ट'शब्दाभ्यां व्याख्याऽवबोद्धव्या ॥ २ अवचूर्याम्–"दितापदा–खण्डितास्थानाऽत एव रङ्गेण तारा वाग्–वाणी यस्या सा ।"इति ॥ ३ "तत्संदेहा" इति भवेत् ॥

महोदयमिति ॥ हे 'अघनाघ!' नास्ति घनं–निबिडम् अघं–पापं यस्य तस्यामन्त्रणम्, हे 'नोदितपरमोहमान !' नोदितौ–प्रेरितौ विसं-स्थूलीकृतौ परेषां मोहमानौ–अज्ञानाहङ्कारौ येन तस्यामन्त्रणम्, हे मल्लिनाथ ! स त्वं 'मे' मम 'महोदयं' मोक्षं महानाम्–उत्सवानां वा उदयं 'प्रवितनु' कुरु। स कः ? यस्त्वं महाव्रतान्येव घनानि–सान्द्राणि काननानि–वनानि तेषु 'घनाघनः' मेघः अभूः, यथा घनाघनः काननस्फातिं जनयति तथा त्वया महाव्रतस्फातिर्जनितेत्यर्थः। त्वं किं० ? अदिताः–अखण्डिताः परमाः–उत्कृष्टा ऊहाः–विचाराः यत्र एतादृशं मानसं–हृदयं यस्य स तथा ॥ १ ॥

मुनीश्वरैः स्मृत ! कुरु सौख्यमर्हतां
सदा नतामर ! समुदाय ! शोभितः।
घनैर्गुणैर्जगति विशेषयन् श्रिया,
सदानतामरस ! मुदा यशोऽभितः ॥ २ ॥

मुनीश्वरैरिति ॥ हे 'स्मृत !' स्मृतिविषयीकृत !, कैः ? 'मुनीश्वरैः' योगीन्द्रैः, कया ? 'मुदा' हर्षेण; हे 'नतामर !' प्रणतत्रिदश !, हे 'सदानतामरस !' दानं–त्यागः तामरसं च–कमलम् सह ताभ्यां वर्तते यस्तस्यामन्त्रणम्, हे 'समुदाय !' घनघात !, केषाम् ? 'अर्हतां' तीर्थंकराणाम् त्वं 'सदा' निरन्तरं सौख्यं कुरु। किम्भूतः ? 'श्रिया' अतिशयादिलक्ष्म्या 'शोभितः' भ्राजितः। किं कुर्वन् ? 'घनैः' बहुलैः 'गुणैः' औदार्यादिभिः 'जगति' विश्वे 'अभितः' समन्तात् 'यशः' श्लोकं 'विशेषयन्' अतिशयानः ॥ २ ॥

---

१ "परे–प्रश्रे" मोहमानविशेषणमिदमयन्त्र्यांम् ॥

जिनः स्म यं पठितमनेकयोगिभि-
मुंदा रसं गतमपरागमाऽऽह तम् ।
सदागमं शिवसुखदं स्तुवेतरा-
मुदारसङ्गतमऽपरागमाहतम् ॥ ३ ॥

जिन इति ॥ अहं तं 'सदागमम्' उत्तमसिद्धान्तं 'स्तुवेतराम्' अतिशयेन स्तवीमि । किम्भूतम् ? 'शिवसुखदं' मोक्षसुखदम् । पुनः किं० ? उदारं–महार्थं च तत् सङ्गतं–सङ्गतियुक्तं चेत्यर्थः । पुनः किं० ? अपरागमैः–तन्त्रान्तरीयसिद्धान्तैः अहतम्–अबाधितम् । सं कम् ? यं 'जिनः' भगवान् 'आह स्म' ब्रूते स्म । किम्भूतम् ? 'अनेकयोगिभिः' निःशेषसाधुभिः 'पठितम्' अधीतम्, कया ? 'मुदा' हर्षेण । पुनः कि० ? 'रसं' शान्ताख्यं 'गतं' प्राप्तम् । पुनः किं० ? अपगतो रागो यस्मात् तम्, क्रियाविशेषणं वा एतत् ॥३॥

तनोतु गीः समयरुचिं सतामना-
विला सभा गवि कृतधीरतापदा ।
शुचिद्युतिः पटुरणदच्छकच्छपी-
विलासभागऽविकृतधीरतापदा ॥ ४ ॥

॥ इति श्रीमल्लिजिनस्तुतिः ॥ १९ ॥

तनोत्विति ॥ 'गीः' भारती 'सताम्' उत्तमानां 'गवि' पृथिव्यां 'समयरुचिं' प्रवचनश्रद्धां 'तनोतु' विधत्ताम् । किम्भूता ? 'अनाविला' निर्मला । * पुनः किम्भूता ? 'सभा' सह भया–प्रकाशकान्त्या वर्त्तते या सा । पुनः किम्भूता ? 'कृतधीरतापदा' कृतं–विहितं धीरतायां–धैर्ये पदं–स्थानं यया सा । * पुनः किं० ? 'शुचि॰

महोदयमिति ॥ हे 'अघनाघ !' नास्ति घनं–निबिडम् अघं–पापं यस्य तस्यामन्त्रणम्, हे 'नोदितपरमोहमान !' नोदितौ–प्रेरितौ विसंस्थूलीकृतौ परेषां मोहमानौ–अज्ञानाहङ्कारौ येन तस्यामन्त्रणम्, हे मल्लिनाथ ! स त्वं 'मे' मम 'महोदयं' मोक्षं महानाम्–उत्सवानां वा उदयं 'प्रवितनु' कुरु । स कः ? यस्त्वं महाव्रतान्येव घनानि–सान्द्राणि काननानि–वनानि तेषु 'घनाघनः' मेघः अभूः, यथा घनाघनः काननस्फातिं जनयति तथा त्वया महाव्रतस्फातिर्जनितेत्यर्थः । त्वं किं० ? अदिताः–अखण्डिताः परमाः–उत्कृष्टा ऊहाः–विचाराः यत्र एतादृशं मानसं–हृदयं यस्य स तथा ॥ १ ॥

मुनीश्वरैः स्मृत ! कुरु सौख्यमर्हतां
सदा नतामर ! समुदाय ! शोभितः ।
घनैर्गुणैर्जगति विशेषयन् श्रिया,
सदानतामरस ! मुदा यशोऽभितः ॥ २ ॥

मुनीश्वरैरिति ॥ हे 'स्मृत !' स्मृतिविषयीकृत !, कैः ? 'मुनीश्वरैः' योगीन्द्रैः, कया ? 'मुदा' हर्षेण; हे 'नतामर !' प्रणतत्रिदश !, हे 'सदानतामरस !' दानं–त्यागः तामरसं च–कमलम् सह ताभ्यां वर्तते यस्तस्यामन्त्रणम्, हे 'समुदाय !' सङ्घपाल !, केषाम् ? 'अर्हतां' तीर्थंकराणाम् त्वं 'सदा' निरन्तरं सौख्यं कुरु । किम्भूतः ? 'श्रिया' अतिशयादिलक्ष्म्या 'शोभितः' भ्राजितः । किं कुर्वन् ? 'घनैः' बहुलैः 'गुणैः' औदार्यादिभिः 'जगति' विश्वे 'अभितः' समन्तात् 'यशः' श्लोकं 'विशेषयन्' अतिशयानः ॥ २ ॥

---

१ "परे–प्रकृष्टे" मोहमानविशेषणमप्यत्र चूर्णम् ॥

दिशतु गिरा निरस्तमदना रमणीहसिता-
यलितरसे ! हितानि सुरवारसभाजितया ॥ २ ॥

अवतीति ॥ हे 'रमणी० रसे !', रमणीनां—कामिनीनां हसितेन—स्मितेन अचालितः—अचलितो रसः—शान्ताख्यो यस्यास्तस्या आमन्त्रणम्, हे 'पारगतावलि !' तीर्थकरश्रेणि ! भवती मयि 'आशु' शीघ्रम् 'ईहितानि' वाञ्छितानि हितानि 'दिशतु' ददातु । भवती किं० ? 'सुरवा' शोभनध्वनिः । पुनः किं० ? तया 'गिरा' वाण्या 'तरसा' वेगेन 'निरस्तमदना' प्रध्वस्तकामा । किम्भूतया गिरा ? सुरवारेण—देवसमूहेन सभाजितया—सेवितया । तया कया ? या 'जगन्ति' भुवनानि 'अवति' रक्षति । मयि किम्भूते ? रसं भजतीति रसभाक् तस्मिन् ॥ २ ॥

यतिभिरधीतमार्हतमतं नयवज्रहताऽ-
घनगमऽभङ्गमानमरणैरनुयोगभृतम् ।
अतिहितहेतुतां दधदऽपास्तभवं रहितं,
घनगमभङ्गमाऽऽनम रणैरनु योगभृतम् ॥ ३ ॥

यतिभिरिति ॥ हे जन ! त्वम् 'आर्हतमतं' जैनेन्द्रप्रवचनम् 'आनम' नमस्कुरु । किम्भूतम् ? 'यतिभिः' वाचंयमैः 'अधीतं' पठितम्, यतिभिः किम्भूतैः ? नास्ति भङ्गः—पराजयो मानः—अहङ्कारो मरणं—मृत्युश्च येषां ते तथा तैः । पुनः किं० ? नया एव वज्राणि—पवयस्तैर्हता अघनगाः—पातकशैला येन तत् । पुनः किं०? अपास्तः—निराकृतो भवः—संसारो येन तत् । पुनः किं० ? घनाः—निबिडाः गमाः—सदृशपाठाः भङ्गाश्च—विकल्पविशेषा यत्र तत् ।

द्युतिः' उज्ज्वलवर्णा । पुनः किं० ? पटु–निपुणं रणन्ती या अच्छा–निर्मला कच्छपी–वीणा तस्या विलासः–ग्राममूर्च्छनादिरूपस्तं भजति या सा। पुनः किं० ? 'अविकृतधीः' अपरिप्लुतमतिः । पुनः किं० ? तापं ददाति या सा तापदा, न तादृशी अतापदा ॥ ४ ॥

॥ इति श्रीमल्लिनाथस्तुतिविवरणम् ॥ १९ ॥

तव मुनिसुव्रत ! क्रमयुगं ननु कः प्रतिभा–
घनघन ! रोहितं नमति मानितमोहरणम् ।
नतसुरमौलिरत्नविभया विनयेन विभ–
वनघ ! नरो हितं न मतिमानितमोहरणम् ॥१॥

तवेति ॥ हे 'प्रतिभाघनघन !' प्रतिभा–सद्यःस्फूर्तिमती बुद्धिः सैव घनं–विपिनं तत्र घन इव–मेघ इव तदुल्लासकारित्वात् यः तस्य आमन्त्रणम्, हे 'अनघ !' निष्पाप !, हे 'विभो' ! हे स्वामिन् !, हे मुनिसुव्रत ! तव 'क्रमयुगं' चरणयुगलं को 'मतिमान्' पण्डितः 'नरः' पुरुषः 'ननु' इति निश्चये विनयेन न 'नमति' नमस्कुरुते ? अपि तु सर्व एव नमस्कुरुत इत्यर्थः । क्रमयुगं किं० ? नतानां सुराणां–देवानां ये मौलयः–मुकुटास्तेषां यानि रत्नानि तेषां वि–भया–कान्त्या 'रोहितं' पाटलम् । पुनः किं० ? मानिनां–मानवतां तमसः–अज्ञानस्य हरणं–नाशकम् । पुनः किं० ? 'हितं' हितकारि, पुनः किं० ? इतो–गतो मोहरणो–अज्ञानसंग्रामो यस्य स्वका–शात् तम् ॥ १ ॥

अयति जगन्ति याऽऽशु भवती मयि पारगता–
वलि ! तरसेहितानि सुरवा रसभाजि तया ।

दिशतु गिरा निरस्तमदना रमणीहसिता-
चलितरसे ! हितानि सुरवारसभाजितया ॥ २ ॥

अवतीति ॥ हे 'रमणी० रसे !, रमणीनां—कामिनीनां हसितेन—स्मितेन अचलितः—अचलितो रसः—शान्ताख्यो यस्यास्तस्या आमन्त्रणम्, हे 'पारगतावलि !' तीर्थकरश्रेणि ! भवती मयि 'आशु' शीघ्रम् 'ईहितानि' वाञ्छितानि हितानि 'दिशतु' ददातु । भवती किं० ? 'सुरवा' शोभनध्वनिः । पुनः किं० ? तया 'गिरा' वाण्या 'तरसा' वेगेन 'निरस्तमदना' प्रध्वस्तकामा । किम्भूतया गिरा ? सुरवारेण—देवसमूहेन सभाजितया—सेवितया । तया कया ? या 'जगन्ति' भुवनानि 'अवति' रक्षति । मयि किम्भूते ? रसं भजतीति रसभाक् तस्मिन् ॥ २ ॥

यतिभिरधीतमार्हतमतं नयवज्रहताऽ-
घनगमऽभङ्गमानमरणैरनुयोगभृतम् ।
अतिहितहेतुतां दधदऽपास्तभवं रहितं,
घनगमभङ्गमाऽऽनम रणैरनु योगभृतम् ॥ ३ ॥

यतिभिरिति ॥ हे जन ! त्वम् 'आर्हतमतं' जैनेन्द्रप्रवचनम् 'आनम' नमस्कुरु । किम्भूतम् ? 'यतिभिः' वाचंयमैः 'अधीतं' पठितम्, यतिभिः किम्भूतैः ? नास्ति भङ्गः—पराजयो मानः—अहङ्कारो मरणं—मृत्युश्च येषां ते तथा तैः । पुनः किं० ? नया एव वज्राणि—पवयस्तैर्हता अघनगाः—पातकशैला येन तत् । पुनः किं० ? अपास्तः—निराकृतो भवः—संसारो येन तत् । पुनः किं० ? घनाः—निबिडाः गमाः—सदृशपाठाः भङ्गाश्च—विकल्पविशेषा यत्र तत् ।

पुनः किं० ? 'रणैः' संग्रामैः 'रहितम्' उज्झितम्, प्रशमोपदेश-कतया रणरसाभिनिवेशत्यागहेतुत्वादार्हतमतस्य। पुनः किं० ? अनुयोगेन—सूत्रार्थनिर्युक्तिमिश्रितार्थनिरवशेषपार्थभेदभिन्नेन व्याख्यानविधिना भृतं—पूर्णम्। किं कुर्वत् ? योगं—श्रुताध्ययनयोग्यताऽऽपादकं क्रियाविशेषं बिभर्ति—पुष्णातीति योगभृत् तम् 'अनु' लक्षीकृत्य 'अतिहितहेतुतां' परमहितावहतां 'दधत्' बिभ्रत्। एतेन अनूढयोगानामध्ययनानधिकारित्वमुक्तम्, न चैतदयुक्तम्, पर्यायविशेषप्रतिनियमेनैव प्रवचने तत्तत्प्रवचनोद्देशाद्यनुज्ञानात्, अन्यथा तदनुपपत्तेः महानिधानकल्पस्य सिद्धान्तस्य विना विधिग्रहणेऽपायसम्भवाच्च, अत एव शिक्षाधिकारे शैक्षस्य योगवत्त्वगुणोक्तिरपि सङ्गतेति दिग्॥३॥

वितरतु वाञ्छितं कनकरुग् भुवि गौर्ययशो-
हृदिततमा महाशुभविनोदिविमानयताम्।
रिपुमदनाशिनी विलसितेन मुदं ददती,
हृदि ततमाऽऽमहाऽऽशु भविनो दिवि मानयताम्॥४॥

॥ इति श्रीमुनिसुव्रतजिनस्तुतिः ॥ २० ॥

वितरत्विति॥ गौरी 'भुवि' पृथिव्याम् 'आशु' शीघ्रं 'भविनः' भव्यलोकस्य 'ततं' विस्तीर्णं 'वाञ्छितम्' ईप्सितं 'वितरतु' ददातु। गौरी किं० ? कनकस्येव सुवर्णस्येव रुक्—कान्तिर्यस्याः सा तथा। पुनः किं० ? अयशः—अकीर्तिः हरतीति अयशोहृत्। पुनः किं० ?

---

१ "ततो-विस्तीर्णो मामहो-उत्सवस्तस्य यस्यां", सा हृदे कन्देर वा परम्" इत्यवचूर्याम्॥

इतं—गतं तमः—पापं यस्याः सकाशात् सा इततमा । पुनः किं० ? 'रिपुमदनाशिनी' शत्रुगर्वनाशकरी । पुनः किं० ? 'आमदा' रोगहा । किं कुर्वती ? 'विलसितेन' विलासेन 'दिवि' स्वर्लोके 'मानवताम्' ऐश्वर्यादिगुणैरभिमानिनाम् महानुभावः—अतिप्रशस्ता ये विनोदिनः *विनोद*क्रियारसिका विमानवन्तः—वैमानिकास्तेषां 'हृदि' हृदये 'मुदं' हर्षं 'ददती' यच्छन्ती ॥ ४ ॥

॥ इति श्रीमुनिसुव्रतजिनस्तुतिविवरणम् ॥ २० ॥

यतो यान्ति क्षिप्रं नमिरघवने नाऽत्र तनुते,
　विभावर्यो नाशं कमऽनलसमाऽऽनन्दितमऽदः ।
दधद् भासांचक्रं रविकरसमूहादिव महा-
　विभावर्योऽनाशङ्कमऽनलसमानं दितमदः ॥ १ ॥

यत इति । 'अदः' एतद् 'भासांचक्रं' भामण्डलं 'दधत्' बिभ्रत् नमिः 'अत्र' जगति कम् 'अनलसं' अपगतालस्यमप्रियतो परित्यक्तालसम् 'अनाशङ्कम्'

"आशङ्का साध्वसं दरः"

इत्यभिधानचिन्तामणि(२–२१५) वचनाद् भयरहितम् अत एव 'आनन्दितं' प्रमुदितं न तनुते ? अपि तु सर्वमपि भयरहितमानन्दितं च तनुते, तथा च जगज्जीवानुजीवामयदर्शनमयनतया नमस्करणीयोऽयमिति व्यज्यते, 'अनाशङ्कं' निःशङ्कमिति क्रियाविशेषणं आनन्दितमित्यस्य वा विधेयपदम् । नमिः किम्भूतः ? दितः—खण्डितो मदः—जात्याद्यवलेपः येन सः । पुनः किं०

पुनः किं० ? 'रणैः' संग्रामैः 'रहितम्' उज्झितम्, प्रशमोपदेशकतया रणरसाभिनिवेशत्यागहेतुत्वादार्हतमवस्य । पुनः किं० ? अनुयोगेन—सूत्रार्थनिर्युक्तिमिश्रितार्थनिरवशेषार्थभेदभिन्नेन व्याख्यानविधिना भृतं—पूर्णम् । किं कुर्वत् ? योगं—श्रुताध्ययनयोग्यताऽऽपादकं क्रियाविशेषं बिभर्ति—पुष्णातीति योगभृत् तम् 'अनु' लक्षीकृत्य 'अतिहितहेतुतां' परमहितावहतां 'दधत्' बिभ्रत् । एतेन अनूढयोगानामध्ययनानधिकारित्वमुक्तम्, न चैतदयुक्तम्, पर्यायविशेषप्रतिनियमेनैव प्रवचने तत्तत्प्रवचनोद्देशाद्यनुज्ञानात्, अन्यथा तदनुपपत्तेः महानिधानकल्पस्य सिद्धान्तस्य विना विधिग्रहणेऽपायसम्भवाच्च, अत एव शिक्षाधिकारे शैक्षस्य योगवत्त्वगुणोक्तिरपि सङ्गतेति दिग् ॥३॥

वितरतु वाञ्छितं कनकरुग् भुवि गौर्ययशो—
हृदिततमा महाशुभविनोदिविमानयताम् ।
रिपुमदनाशिनी विलसितेन मुदं ददती,
हृदि ततमाऽऽमहाऽऽशु भविनो दिवि मानयताम् ॥४॥

॥ इति श्रीमुनिसुव्रतजिनस्तुतिः ॥ २० ॥

वितरत्विति ॥ गौरी 'भुवि' पृथिव्याम् 'आशु' शीघ्रं 'भविनः' भव्यलोकस्य 'ततं' विस्तीर्णं 'वाञ्छितम्' ईप्सितं 'वितरतु' ददातु । गौरी किं० ? कनकस्येव सुवर्णस्येव रुक्—कान्तिर्यस्याः सा तथा । पुनः किं० ? अयशः—अकीर्तिः हरतीति अयशोहृत् । पुनः किं० ?

---

१ "गौरी-शिरीषी नामहो-हरद्रुमसवी यशसः स्त्री हरमेकमेव वा पदम्" रत्नमञ्जूषायाम् ॥

इतं—गतं तमः—पापं यस्याः सकाशात् सा इततमा । पुनः किं० ? 'रिपुमदनाशिनी' शत्रुगर्वनाशकरी । पुनः किं० ? 'आमदा' रोगदा । किं कुर्वती ? 'विलसितेन' विलासेन 'दिवि' स्वर्लोके 'मानवताम्' ऐश्वर्यादिगुणैरभिमानिनाम् सदाशुभाः—अतिप्रशस्ता ये विनोदिनः *विनोद*क्रियारसिका विमानवन्तः—वैमानिकास्तेषां 'हृदि' हृदये 'मुदं' हर्षं 'ददती' यच्छन्ती ॥ ४ ॥

॥ इति श्रीमुनिसुव्रतजिनस्तुतिविवरणम् ॥ २० ॥

यतो यान्ति क्षिप्रं नमिरघयने नाऽत्र तनुते,
विभावर्यो नाशं कमऽनलसमाऽऽनन्दितमऽदः ।
दधद् भासांचक्रं रविकरसमूहादिव महा-
विभायर्योऽनाशङ्कमऽनलसमानं वितमदः ॥ १ ॥

यत इति । 'अदः' एतद् 'भासांचक्रं' भामण्डलं 'दधत्' विभ्रत् नमिः 'अत्र' जगति कम् 'अनलसं' भगवदाज्ञाप्रतिपत्तौ परिगताऽऽलस्यम् 'अनाशङ्कम्'

"आशङ्का साध्वसं दरः"

इत्यभिधानचिन्तामणि(२–२१५) वचनाद् भयरहितम् अत एव 'आनन्दितं' प्रमुदितं न तनुते ? अपि तु सर्वमपि भयरहितमानन्दितं च तनुते, तथा च जगज्जीवातुजीवाभयदर्पदानप्रवणतया नमस्करणीयोऽयमिति व्यज्यते, 'अनाशङ्कं' निःशङ्कमिति क्रियाविशेषणं आनन्दितमित्येव वा विधेयपदम् । नमिः किम्भूतः ? वितः—खण्डितो मदः—जात्याद्यवलेपः येन सः । पुनः किं०

पुनः किं० ? 'रणैः' संग्रामैः 'रहितम्' उज्झितम्, प्रशमोपदेशकतया रणरसाभिनिवेशत्यागहेतुत्वादार्हतमतस्य। पुनः किं० ? अनुयोगेन–सूत्रार्थनिर्युक्तिमिश्रितार्थनिरवशेषार्थभेदभिन्नेन व्याख्यानविधिना भृतं–पूर्णम्। किं कुर्वत् ? योगं–श्रुताध्ययनयोग्यताऽऽपादकं क्रियाविशेषं बिभर्त्ति–पुष्णातीति योगभृत् तम् 'अनु' लक्षीकृत्य 'अतिहितहेतुतां' परमहितावहतां 'दधत्' बिभ्रत्। एतेन अनूढयोगानामध्ययनानधिकारित्वमुक्तम्, न चैतदयुक्तम्, पर्यायविशेषप्रतिनियमेनैव प्रवचने तत्तत्प्रवचनोद्देशाद्यनुज्ञानात्, अन्यथा तदनुपपत्तेः महानिधानकल्पस्य सिद्धान्तस्य विना विधिग्रहणेऽपायसम्भवाच्च, अत एव शिक्षाधिकारे शैक्षस्य योगवत्त्वगुणोक्तिरपि सङ्गतेति दिग्॥३॥

वितरतु वाञ्छितं कनकरुग् भुवि गौर्ययशो–
हृदिततमा महाशुभविनोदिविमानवताम्।
रिपुमदनाशिनी विलसितेन मुदं ददती,
हृदि ततमाऽऽमहाऽऽशु भविनो दिवि मानवताम्॥४॥

॥ इति श्रीमुनिसुव्रतजिनस्तुतिः ॥ २० ॥

वितरत्विति॥ गौरी 'भुवि' पृथिव्याम् 'आशु' शीघ्रं 'भविनः' भव्यलोकस्य 'ततं' विस्तीर्णं 'वाञ्छितम्' ईप्सितं 'वितरतु' ददातु। गौरी किं० ? कनकस्येव सुवर्णस्येव रुक्–कान्तिर्यस्याः सा तथा। पुनः किं० ? अयशः–अकीर्तिः हरतीति अयशोहृत्। पुनः किं० ?

१ "तती–विस्तीर्णा मामही–स्वम्पुरस्वा स्त्वयचूर्याम्॥

इतं–गतं तमः–पापं यस्याः सकाशात् सा इततमा । पुनः किं० ? 'रिपुमदनाशिनी' शत्रुसमयनाशकरी । पुनः किं० ? 'आमदा' रोगहा । किं कुर्वती ? 'विलसितेन' विलासेन 'दिवि' स्वर्लोके 'मानवताम्' ऐश्वर्यादिगुणैरभिमानिनाम् महाशुभाः–अतिप्रशस्ता ये विनोदिनः *विनोद*क्रियारसिका विमानवन्तः–वैमानिकास्तेषां 'हृदि' हृदये 'मुदं' हर्षं 'ददती' यच्छन्ती ॥ ४ ॥

॥ इति श्रीमुनिसुव्रतजिनस्तुतिविवरणम् ॥ २० ॥

यतो यान्ति क्षिप्रं नमिरघवने नाऽत्र तनुते,
विभावर्यो नाशं कमऽनलसमाऽऽनन्दितमऽदः ।
दधद् भासांचक्रं रविकरसमूहादिव महा-
विभावर्योऽनाशङ्कमऽनलसमानं दितमदः ॥ १ ॥

यत इति । 'अदः' एतद् 'भासांचक्रं' भामण्डलं 'दधत्' बिभ्रत् नमिः 'अत्र' जगति कम् 'अनलसं' भगवदाज्ञाप्रतिपत्तौ परित्यक्तालसम् 'अनाशङ्कम्'

"आशङ्का साध्वसं दरः"

पुनः किं० ? 'रणैः' संग्रामैः 'रहितम्' उज्झितम्, प्रशमोपदेशकतया रणरसाभिनिवेशत्यागहेतुत्वादार्हतमतस्य। पुनः किं० ? अनुयोगेन–सूत्रार्थनिर्युक्तिमिश्रितार्थनिरवशेषार्थभेदभिन्नेन व्याख्यानविधिना भृतं–पूर्णम्। किं कुर्वत् ? योगं–श्रुताध्ययनयोग्यताऽऽपादकं क्रियाविशेषं बिभर्त्ति–पुष्णातीति योगभृत् तम् 'अनु' लक्षीकृत्य 'अतिहितहेतुतां' परमहितावहतां 'दधत्' बिभ्रत्। एतेन अनूढयोगानामध्ययनानधिकारित्वमुक्तम्, न चैतदयुक्तम्, पर्यायविशेषप्रतिनियमेनैव प्रवचने तत्तत्प्रवचनोद्देशाद्यनुज्ञानात्, अन्यथा तदनुपपत्तेः महानिधानकल्पस्य सिद्धान्तस्य विना विधिग्रहणेऽपायसम्भवाच्च, अत एव शिक्षाधिकारे शैक्षस्य योगवत्त्वगुणोक्तिरपि सङ्गतेति दिग्॥३॥

वितरतु वाञ्छितं कनकरुग् भुवि गौर्ययशो–
हृदिततमा महाशुभविनोदिविमानवताम्।
रिपुमदनाशिनी विलसितेन मुदं ददती,
हृदि ततमाऽऽमहाऽऽशु भविनो दिवि मानयताम्॥४॥

॥ इति श्रीमुनिसुव्रतजिनस्तुतिः ॥ २० ॥

वितरत्विति॥ गौरी 'भुवि' पृथिव्याम् 'आशु' शीघ्रं 'भविनः' भव्यलोकस्य 'ततं' विस्तीर्णं 'वाञ्छितम्' ईप्सितं 'वितरतु' ददातु। गौरी किं० ? कनकस्येव सुवर्णस्येव रुक्–कान्तिर्यस्याः सा तथा। पुनः किं० ? अयशः–अकीर्तिः हरतीति अयशोहृत्। पुनः किं० ?

१ "ततो–विस्तीर्णो मामहो–उत्सवो यस्याः सा इत्येकमेव वा पदम्" इत्यवचूर्याम्॥

चितम् अथवा करेण—हस्तेन चितं स्वार्जितमित्यर्थः, अयं खल्वात्मन एव दोषो यदनुभवति प्राणी वथाविधं पुराकृतं क्लिष्ट कर्म । पुनः किं० ? उपचितं—प्रवृद्धम् आजिभिः—सङ्ग्रामैः नानामायासञ्चरणं—विचित्रकपटसञ्चारो यत्र तत् तथा । पुनः किं० ? 'वदितम्' उत्थितं यद् 'अलीकं' मिथ्यावचनं तेन रचितं—जनितम्, असत्यवचनमेव खल्वेतन्मूलमुक्तम् । यतः—"असत्यवचनाद् वैरविषादाप्रत्ययादयः । प्रादुष्यन्ति न के दोषाः, कुपथ्याद् व्याधयो यथा ॥"इति ॥ २ ॥

जिनानां सिद्धान्तश्चरणपटु कुर्यान्मम मनो–
ऽपराभूतिर्लोके शमहितपदानामऽविरतम् ।
यतः स्याच्चक्रित्वत्रिदशविभुताद्या भवभृतां,
परा भूतिर्लोकेशमहितपदानामविरतम् ॥ ३ ॥

जिनानामिति ॥ 'जिनानां' भगवतां 'सिद्धान्तः' समयो मम 'अविरतम्' अविरतिपरिणामयुक्तं 'मनः' चित्तम् 'अविरतं' निरन्तरं 'चरणपटु' विरतिपरिणामधारणक्षमं कुर्यात्, अत्र च यद्यप्यविरतत्वमात्मनो धर्मो न तु मनसः तथापि भावमनस आत्मरूपत्वाद् द्रव्यार्थिकप्राधान्यादविरतं मन इत्युक्तमिति ध्येयम् । सिद्धान्तः किं० ? 'लोके' जगति 'अपराभूतिः' पराभवरहितः । जिनानां किम्भूतानाम् ? 'शमहितपदानाम्' उपशमपथ्यस्थानानाम् । पुनः किं० ? लोकेशैः—लोकपालैः महिते—*-पूजिते*पदे—चरणे येषां तेषाम् । स कः ? 'यतः' यस्मात् 'भवभृतां' ससारिणां चक्रित्वं—सार्वभौमत्वं त्रिदशविभुता च—इन्द्रत्वं ते [illegible] गस्यास्तादृशी 'परा' प्रकृष्टा 'भूतिः' संपत् स्यात् ॥ ३ ॥

विभया–कान्त्या वर्यः–मनोहरः । भासांचक्रं किम्भूतम् ? 'अघवने' दुरितकानने 'अनलसमानम्' अग्नितुल्यम्, यथाऽग्निर्वनं विनाशयति तथेदमपि दुरितं विनाशयतीत्यर्थः । अदः किम् ? 'यतः' यस्मात् 'महाविभावर्यः' अमावास्याया अपि बहलतमिस्रप्रफुल्ला निशीथिन्यः 'क्षिप्रं' तूर्णं 'नाशं यान्ति' क्षयं प्राप्नुवन्ति । कस्मादिव ? 'रविकरसमूहादिव,' सूर्यकिरणचक्रादिव ॥ १ ॥

भवोद्भूतं भिन्द्याद् भुवि भवभृतां भव्यमहिता,
जिनानामाऽऽयासं चरणमुदिताऽऽली करचितम् ।
शरण्यानां पुण्या त्रिभुवनहितानामुपचिता–
ऽऽजिनानामायासंचरणमुदितालीकरचितम् ॥ २ ॥

भवोद्भूतमिति ॥ 'जिनानाम्' अर्हतां 'आली' श्रेणिः 'भुवि' पृथिव्यां 'भवभृतां' प्राणिनां 'भवोद्भूतं' संसारसमुत्थम् 'आयासं' खेदं 'भिन्द्याद्' विलुम्पयात् । आली किं० ? भव्यैः महिता–पूजिता, अभव्यानां देवर्ध्याद्यतिशयदर्शनात् संसारसुखलिप्सया तत्पूजनं तु परमार्थतोऽपूजनमेवेति भावः । पुनः किं० ? चरणेन–चारित्रेण मुदिता–आनन्दिता, भवति हि सरागचारित्रेणाऽपि मासादिपर्यायवृद्धौ व्यन्तरादितेजोलेश्यातिक्रमाभिधानाद् विशिष्टसुखातिशय इति किमाश्चर्यं वीतरागचारित्राद् आनन्दातिशये ? इति युक्तमुक्तमदः । पुनः किं० ? 'पुण्या' पवित्रा । जिनानां किम्भूतानाम् ? 'शरण्यानां' शरणयोग्यानाम् । पुनः किं० ? 'त्रिभुवनहितानां' जगत्त्रयहितकारिणाम् । आयासं किं० ? करेण–दण्डेन

चितम् अथवा करेण—हस्तेन चितं स्वार्जितमित्यर्थः, अयं खल्वात्मन एव दोषो यदनुभवति प्राणी तथाविधं पुराकृतं क्लिष्टं कर्म । पुनः किं० ? उपचितं—प्रवृद्धम् आजिभिः—सङ्ग्रामैः नानामायासञ्चरणं—विचित्रकपटसञ्चारो यत्र तत् तथा । पुनः किं० ? 'उदितम्' उत्थितं यद् 'अलीकं' मिथ्यावचनं तेन रचितं—जनितम्, असत्यवचनमेव सर्वेषामनर्थानां मूलमुक्तम् । यतः—"असत्यवचनाद् वैरविषादाप्रत्ययादयः । प्रादुर्भवन्ति न के दोषाः, कुपथ्याद् व्याधयो यथा ॥" इति ॥ २ ॥

जिनानां सिद्धान्तश्चरणपटु कुर्यान्मम मनो-
ऽपराभूतिर्लोके शमहितपदानामऽविरतम् ।
यतः स्याच्चक्रित्वत्रिदशविभुताद्या भवभृतां,
परा भूतिर्लोकेशमहितपदानामविरतम् ॥ ३ ॥

जिनानामिति ॥ 'जिनानां' भगवतां 'सिद्धान्तः' समयो मम 'अविरतम्' अविरतिपरिणामयुक्तं 'मनः' चित्तम् 'अविरतं' निरन्तरं 'चरणपटु' विरतिपरिणामधारणक्षमं कुर्यात्, अत्र च यद्यप्यविरतत्वमात्मनो धर्मो न तु मनसः तथापि भावमनस आत्मरूपत्वाद् द्रव्यार्थिकप्राधान्यादविरतं मन इत्युक्तमिति ध्येयम् । सिद्धान्तः किं० ? 'लोके' जगति 'अपराभूतिः' परामवरहितः । जिनानां किम्भूतानाम् ? 'शमहितपदानाम्' उपशमपथ्यस्थानानाम् । पुनः किं० ? लोकेशैः—लोकपालैः महिते—*पूजिते*पदे—चरणे येषां तेषाम् । स कः ? 'यतः' यस्मात् 'भवभृतां' संसारिणां चक्रित्वं—सार्वभौमत्वं त्रिदशविभुता च—इन्द्रत्वं ते आद्ये [illegible]णी 'परा' प्रकृष्टा 'भूतिः' संपत् स्यात् ॥ ३ ॥

गजव्यालव्याघ्रानलजलसमिद्बन्धनरुजो–
ऽगदाक्षाऽलीकालीनयमवति विश्वासमहिता ।
जनैर्विश्वध्येया विघटयतु देवी करलस–
द्गदाक्षाली काली नयमऽवति विश्वाऽसमहिता ॥४॥

॥ इति श्रीनमिजिनस्तुतिः ॥ २१ ॥

गजेति ॥ काली देवी 'गजव्यालव्याघ्रानलजलसमिद्बन्धनरुजो' लक्षणया गजादिजन्यभयानि 'विघटयतु' वियोजयतु । काली किं० ? [1]अगदानि–नैरुज्यकलितानि अक्षाणि–इन्द्रियाणि यासां तादृश्य आलयः–सख्यो यस्याः सा तथा । पुनः किं० ? 'जनैः' लोकैः विश्वासेन–विष्टम्भेन महिता–पूजिता । पुनः किं० ? विश्वस्य–जगतो ध्येया–स्मरणीया । पुनः किं० ? करे–हस्ते लसन्त्यौ–शोभमाने गदा च अक्षाली च–द्यूतपाशश्रेणिश्च यस्याः सा । पुनः किं० ? विश्वतः–सर्वस्माद् असमं–निरुपमं हितं यस्याः सा । कुत्र ? 'नय' न्यायम् 'अवति' पालयति, अलीके–अनृतेऽलीनः–असक्तो यो यमवान्–महाव्रतवान् तस्मिन् ॥ ४ ॥

॥ इति श्रीनमिजिनस्तुतिविवरणम् ॥ २१ ॥

त्वं येनाक्षतधीरिमा गुणनिधिः प्रेम्णा वितन्वन् सदा,
नेमेऽकान्तमहामना विलसतां राजीमतीरागतः ।

---

[1] अत्र "अगदानि–नैरुज्यकलितानि अक्षाणि–इन्द्रियाणि यस्याः सा" इत्येव पाठो वरिष्ठ, अन्यथा "अलीकालीनयमवति" इत्यत्र "कालीनयमवति" इत्यावृत्तिर्भविष्यतेऽनिष्टं च तद् ॥

कुर्यास्तस्य शिवं शिवाङ्गज ! भवाम्भोधौ न सौभाग्यभाग्,
नेमे ! कान्तमहामनाविल ! सतां राजीमतीरागतः॥१॥

त्वं येनेति ॥ हे 'शिवाङ्गज!' शिवादेवीपुत्र !, हे 'अनाविल !' अकलुष ! हे नेमे ! त्वं *तस्य 'सदा' निरन्तरम्* 'शिवम्' कल्याणं कुर्याः । त्वं किं० ? 'भवाम्भोधौ' संसारसमुद्रे 'नातीरागतः' न अपारप्राप्तः, द्वयोर्नञोः प्रकृतार्थगमकत्वात् पारप्राप्त एवेत्यर्थः । पुनः किं० ? सौभाग्यं भजतीति सौभाग्यभाग् । पुनः किं० ? अकस्य—दुःखस्य अन्तो यस्मादसौ अकान्तः स चासौ महामनाः—उत्तमचित्तः स तथा । तस्य कस्य ? त्वं येन 'प्रेम्णा' हर्षेण 'नेमे' नमस्कृतः । *पुनः* किं० ? 'राजीमतीरागतः' राजीमतीस्नेहतः *अक्षतः—अविनष्टः धीरि* मा—धीरभावो यस्य स तथा । पुनः किं० ? गुणानाम्—औदार्यादीनां निधिः—सेवधिः । किं कुर्वन् ? 'विलसताम्' उल्लसतां 'सतां' साधूनां 'राजीं' श्रेणीं 'कान्तमहां' रमणीयोत्सवां 'वितन्वन्' विदधत् ॥ १ ॥

जीयासुर्जिनपुङ्गवा जगति ते राज्यर्द्धिषु प्रोल्लस-
द्धामानेकपराजितासु विभयासन्नाभिरामोदिताः ।
योधालीभिरुदित्वरा न गणिता यैः स्फातयः प्रस्फुर-
द्धामानेकपराजितासु विभया सन्नाभिरामोदिताः॥२॥

जीयासुरिति ॥ ते 'जिनपुङ्गवाः' जिनवृषभाः 'जगति' लोके 'जीयासुः' सर्वोत्कर्षेण वर्तेरन् । ते के ? यैः 'राज्यर्द्धिषु' नृपत्वर्द्धिषु 'स्फातयः' वृद्धयः 'न गणिताः' न पुरस्कृताः, जन्माद्यभ्यासङ्गेन वैगुण्याद् विमुखीभूतमित्यर्थः । स्फातयः किं० ? 'विभया'

गजव्यालव्याघ्रानलजलसमिद्बन्धनरुजो—
ऽगदाक्षाऽलीकालीनयमवति विश्वासमहिता ।
जनैर्विश्वध्येया विघटयतु देवी करलस—
द्गदाक्षाली काली नयमऽवति विश्वाऽसमहिता ॥४॥

॥ इति श्रीनमिजिनस्तुतिः ॥ २१ ॥

गजेति ॥ काली देवी 'गजव्यालव्याघ्रानलजलसमिद्बन्धनरुजो' लक्षणया गजादिजन्यभयानि 'विघटयतु' वियोजयतु । काली किं० ? [1]अगदानि—नैरुज्यकलितानि अक्षाणि—इन्द्रियाणि यासां तादृश्य आल्यः—सख्यो यस्याः सा तथा । पुनः किं० ? 'जनैः' लोकैः विश्वासेन—विष्टम्भेन महिता—पूजिता । पुनः किं० ? विश्वस्य—जगतो ध्येया—स्मरणीया । पुनः किं० ? करे—हस्ते लसन्त्यौ—शोभमाने गदा च अक्षाली च—द्यूतपाशश्रेणिश्च यस्याः सा । पुनः किं० ? विश्वतः—सर्वस्माद् असमं—निरुपमं हितं यस्याः सा । कुत्र ? 'नयं' न्यायम् 'अवति' पालयति, अलीके—अनृतेऽलीनः—असक्तो यो यमवान्—महाव्रतवान् तस्मिन् ॥ ४ ॥

॥ इति श्रीनमिजिनस्तुतिविवरणम् ॥ २१ ॥

त्वं येनाक्षतधीरिमा गुणनिधिः प्रेम्णा वितन्वन् सदा,
नेमेऽक्रान्तमहामना विलसतां राजीमतीरागतः ।

---

[1] अत्र "अगदानि—नैरुज्यकलितानि अक्षाणि—इन्द्रियाणि यस्याः सा" इत्येव पाठो वरिष्ठ, अन्यथा "अलीकालीनयमवति" इत्यत्र "कालीनयमवति" इत्याधिप्यतेऽनिष्टं च तत् ॥

कुर्यास्तस्य शिवं शिवाङ्गज ! भवाम्भोधौ न सौभाग्यभाग्,
नेमे ! कान्तमहामऽनाविल ! सतां राजीमतीरागतः॥१॥

त्वं येनेति ॥ हे 'शिवाङ्गज!' शिवादेवीपुत्र !, हे 'अनाविल !' अकलुष ! हे नेमे ! त्वं *तस्य 'सदा' निरन्तरम्* 'शिवम्' कल्याणं कुर्याः । त्वं किं० ? 'भवाम्भोधौ' संसारसमुद्रे 'नातीरागतः' न अपारमाप्तः, द्वयोर्नञोः प्रकृतार्थगमकत्वात् पारप्राप्त एवेत्यर्थः । पुनः किं० ? सौभाग्यं भजतीति सौभाग्यभाग् । पुनः किं० ? अकस्य-दुःखस्य अन्तो यस्मादसौ अकान्तः स चासौ महामनाः-उत्तमचित्तः स तथा । तस्य कस्य ? त्वं येन 'प्रेम्णा' हर्षेण 'नेमे' नमस्कृतः । *पुनः* किं० ? 'राजीमतीरागतः' राजीमतीस्नेहतः *अक्षतः-अविनष्टः धीरि* मा-धीरभावो यस्य स तथा । पुनः किं० ? गुणानाम्-औदार्यादीनां निधिः-सेवधिः । किं कुर्वन् ? 'विलसताम्' उल्लसतां 'सतां' साधूनां 'राजीं' श्रेणीं 'कान्तमहां' रमणीयोत्सवां 'वितन्वन्' विदधत् ॥ १ ॥

जीयासुर्जिनपुङ्गवा जगति ते राज्यर्द्धिषु मोल्लस-
द्धामानेकपराजितासु विभयासद्माभिरामोदिताः ।
योधालीभिरुदित्वरा न गणिता यैः स्फातयः प्रस्फुर-
द्धामानेकपराजितासु विभया सद्माभिरामोदिताः॥२॥

जीयासुरिति ॥ ते 'जिनपुङ्गवाः' जिनवृषभाः 'जगति' लोके 'जीयासुः' सर्वोत्कर्षेण वर्त्तेरन् । ते के ? यैः 'राज्यर्द्धिषु' नृपत्वर्द्धिषु 'स्फातयः' वृद्धयः 'न गणिताः' न पुरस्कृताः, तन्मात्रव्यासङ्गेन ~त्वाद् विमुखीभूतमित्यर्थः । स्फातयः किं० ? 'विभया'

कान्त्या 'उदित्वराः' प्रतिदिनमुदयनशीलाः । राज्यर्द्धिषु किम्भूतासु ? प्रकर्षेण उल्लसन्ति यानि धामानि–गृहाणि अनेकपाश्व–हस्तिनः तैः राजितासु–शोभितासु । पुनः किम्भूतास्ते ? आमोदिता इव हर्षिता इव, अमोदिताः कामिः ? 'योधाळीभिः' सुभटश्रेणिभिः, किम्भूताभिः ? विभया–भयरहिता असन्ना–अखिन्नाः *च* ताभिः । *पुनः* राज्यर्द्धिषु किं० ? प्रकर्षेण स्फुरद्–दीप्यमानं धाम–तेजो येषां तादृशा ये अनेके–सकलाः पराः–शत्रवः तैः अजितासु–अवशीकृतासु । स्फातयः किं० ? सती शोभना नाभिर्यासां तादृश्यो या रामाः–स्त्रियः ताभिः उदिताः–प्राप्तोदयाः ॥ २ ॥

या गङ्गेव जनस्य पङ्कमखिलं पूता हरत्यञ्जसा,
भारत्याऽऽगमसङ्गता नयतताऽमायाचिता साऽधुना ।
अध्येतुं गुरुसन्निधौ मतिमता कर्तुं सतां जन्मभी–
भारत्यागमऽसङ्गता न यततामाऽऽयाचिता साधुना॥३॥

येति ॥ सा 'आगमसङ्गता' सिद्धान्तसम्बद्धा 'भारती' वाणी 'अधुना' इदानीं 'सतां' साधूनां 'जन्मभीभारत्यागं' संसारभयसमूहप्रहाणं 'कर्तुं' विधातुं 'यतताम्' उद्यच्छतु । किं० ? 'नासङ्गता' न सङ्गतिविरहिता । पुनः किं० ? नयैः–नैगमादिभिः तता–विस्तीर्णा । पुनः किं० ? 'मतिमता' बुद्धिशालिना 'साधुना' यतिना 'गुरुसन्निधौ' अध्यापकसविधे 'अध्येतुं' पठितुं आ–समन्तात् याचिता–प्रार्थिता, इच्छाकारपूर्वैव हि साधूनां सर्वत्र प्रवृत्तिरित्येवमुक्तिः । पुनः किं० ? मायया–कपटेन अचिता–अव्याप्ता, साधुना किं० ? मायां चिनोतीति मायाचित् न तादृग् अमायाचित्

तेनेति व्याख्येयम्, शमस्य—ज्ञानस्य आयः—लाभः तेन आ—समन्तात् चिता—व्याप्ता इति भारतीविशेषणमेव वा । सा का ? या 'गङ्गेव' सुरसरिदिव 'पूता' पवित्रिता 'जनस्य' लोकस्य 'अञ्जसा' वेगेन 'अखिलं' सकलं 'पङ्कं' पापं 'हरति' अपनयति, गङ्गाऽपि जनस्याखिलं पङ्कं—कर्दमं हरतीति श्लेषः ॥ ३ ॥

व्योम स्फारविमानतूरनिनदैः श्रीनेमिभक्तं जनं,
प्रत्यक्षामरसालपादपरतां वाचालयन्ती हितम् ।
दद्यान्नित्यमिताऽऽम्रलुम्बिलतिकाविभ्राजिहस्ताऽहितं
प्रत्यक्षामरसालपादपरताऽम्बा चालयन्तीहितम्॥४॥

॥ इति श्रीनेमिजिनस्तुतिः ॥ २२ ॥

व्योमेति ॥ 'अम्बा' अम्बिकादेवी 'नित्यं' निरन्तरम् 'ईहितं' वाञ्छितं *'हितं' सुखं* दद्यात् । किं० ? आम्रलुम्बिलतिकया विभ्राजी—शोभमानो हस्तो यस्याः सा तथा । पुनः किं० ? 'श्रीनेमिभक्तं' श्रीनेमिनाथे भक्तिमन्तं जनं 'प्रति' लक्षीकृत्य प्रत्यक्षः—साक्षाद्भूतो योऽमरसालः—कल्पतरुः तद्वत् वाञ्छितदत्वात् पादौ—चरणौ यस्याः अत एव परा—उत्कृष्टा तस्या भावः तत्ता ताम् 'इता' प्राप्ता । किं कुर्वती ? 'स्फारविमानतूरनिनदैः' उदारविमानतूर्यनिर्घोषैः 'व्योम' गगनं 'वाचालयन्ती' मुखरयन्ती । पुनः किं कु० ? 'अहितं' वैरिणं 'चालयन्ती' भापयन्ती, किम्भूता ? अक्षामः—अकृशः फलसमृद्धो यो रसालपादपः—सहकारतरुः तत्र रता—सक्ता ॥ ४ ॥

॥ इति श्रीनेमिजिनस्तुतिविवरणम् ॥ २२ ॥

सौधे सौधे रसे स्वे रुचिररुचिरया हारिलेखारिलेखा,
पायं पायं निरस्ताघनयघनयशो यस्य नाथस्य नाऽथ ।
पार्श्वं पार्श्वं तमोद्रौ तमऽहतमहमऽक्षोभजालं भजाऽलं,
कामं कामं जयन्तं मधुरमधुरमाभाजनत्वं जन ! त्वम्॥१॥

सौध इति ॥ हे जन ! त्वं तं पार्श्वम् 'अलम्' अत्यर्थं 'भज' सेवस्व । पार्श्वं किं० ? 'तमोद्रौ' पातकवृक्षे 'पार्श्वं' पर्शुसमूहम्, यथा कुठारो वृक्षं छिनत्ति तथा यः पातकमिति भावः । पुनः किं० ? 'अहतः–अप्रतिहतो महः–उत्सवो यस्य स *तम्* । पुनः किं० ? नास्ति क्षोभजालं–भयसमूहो यस्य तम् । पुनः किं कुर्वन्तम् ? 'कामम्' अत्यर्थं 'कामं' कन्दर्पं 'जयन्तं' वशीकुर्वन्तम्, कामं किं० ? मधुरमायाः–वसन्तश्रियो भाजनत्वं–पात्रत्वं मधुरमाभाजनत्वम्–मधुरं–मनोहरं तद् यत्र स तथा तम् । तं कम् ? यस्य 'नाथस्य' स्वामिनः निरस्तं–निराकृतम् अघं–पापं यैस्ते निरस्ताघाः तादृशा ये नयाः तेषां घनं–निबिडं यशः 'पायं पायं' पीत्वा पीत्वा, 'अथ' अनन्तरं 'हारिलेखारिलेखा' मनोज्ञाऽसुरश्रेणिः 'स्वे सौधे' निजे गृहे 'सौधे' अमृतसम्बन्धिनि रसे रुचिरः–मनोहरो रुचिरयः–अभिलाषप्रसरो यस्याः सा तादृशी नाभवत्, यशःपानानन्तरमसुराः स्वभोज्येऽमृतेऽपि निरादरा जाता इति ततोऽप्यधिकं यश इत्यर्थः ॥ १ ॥

तीर्थे तीर्थेशराजी भवतु भवतुदऽस्तारिमीमारिमीमा–
लीकालीकालकूटाऽकलितकलितयोल्लासमूहे समूहे ।

या मायामानहर्त्री भवविभवविदां दत्तविश्वासविश्वा-
नाशानाशामिशङ्का विमदविमदनत्रासमोहाऽसमोहा २

तीर्थे इति ॥ *सा* 'तीर्थेशराजी' तीर्थंकरश्रेणिः 'तीर्थे' सङ्घे भवं-संसारं तुदतीति 'भवतुत्' संसारोच्छेदकरी भवतु । किं० ? 'अस्ता० कूटा' अरिभ्यः-वैरिभ्यो भीः-भयं अरिभीः सा च मारिः-मरकश्च भीमालीकाली-भीषणानृतश्रेणिश्च अरिभीमालीकाल्यः, ता एव कालकूटानि अरि० कूटानि, अस्तानि-निराकृतानि तानि यया सा तथा । सा का ? या 'भवविभवविदां' संसारधनप्राप्तिभाजां 'समूहे' चक्रे 'अकलितकलितया' अप्राप्तक्लेशतया 'उल्लासम्' आनन्दम् 'ऊहे' वहते स्म, नहि दुःखप्रतिकारमात्रे सुखप्रतिभासधारिणां संसारिणामीदृशं सुखमस्ति यादृशमनुभवन्ति वीतमोहा लब्धात्मस्वभावाः । या किं० ? मायामानौ-दम्भस्मयौ हरतीति मायामानहर्त्री । पुनः किं० ?'विशिष्टं मदनः*

....

..............*। पुनः किं० ? असमाः-निरुपमाः ऊहाः-विचारा यस्याः सा तथा ॥ २ ॥

गौरागौरातिकीर्तेः परमपरमवह्लासविश्वासविश्वा-
ऽऽदेया देयान्मुदं मे जनितजनितनूभावतारावतारा ।

सौधे सौधे रसे स्वे रुचिररुचिरया हारिलेखारिलेखा,
पायं पायं निरस्ताघनयघनयशो यस्य नाथस्य नाऽथ ।
पार्श्वं पार्श्वं तमोद्रौ तमऽहतमहमऽक्षोभजालं भजाऽलं,
कामं कामं जयन्तं मधुरमधुरमाभाजनत्वं जन! त्वम्॥१॥

सौध इति ॥ हे जन ! त्वं तं पार्श्वम् 'अलम्' अत्यर्थं 'भज' सेवस्व । पार्श्वं किं० ? 'तमोद्रौ' पातकवृक्षे 'पार्श्वं' पर्शुसमूहम्, यथा कुठारो वृक्षं छिनत्ति तथा यः `पातकमिति भावः । पुनः किं० ? 'अहतः–अप्रतिहतो महः–उत्सवो यस्य स *तम्* । पुनः किं० ? नास्ति क्षोभजालं–भयसमूहो यस्य तम् । पुनः किं कुर्वन्तम् ? 'कामम्' अत्यर्थं 'कामं' कन्दर्पं 'जयन्तं' वशीकुर्वन्तम्, कामं किं० ? मधुरमायाः–वसन्तश्रियो भाजनत्वं–पात्रत्वं मधुरमाभाजनत्वम्-मधुरं–मनोहरं यद् यत्र स तथा तम् । तं कम् ? यस्य 'नाथस्य' स्वामिनः निरस्तं–निराकृतम् अघं–पापं यैस्ते निरस्ताघाः तादृशा ये नयाः तेषां घनं–निबिडं यशः 'पायं पायं' पीत्वा पीत्वा, 'अथ' अनन्तरं 'हारिलेखारिलेखा' मनोज्ञाऽसुरश्रेणिः 'स्वे सौधे' निजे गृहे 'सौधे' अमृतसम्बन्धिनि रसे रुचिरः–मनोहरो रुचिरयः–अभिलाषप्रसरो यस्याः सा तादृशी नाभवत्, यद्यशःपानानन्त-रमसुराः स्वभोज्येऽमृतेऽपि निरादरा जाता इति ततोऽप्यधिकं यश इत्यर्थः ॥ १ ॥

तीर्थे तीर्थेशराजी भवतु भवतुदऽस्तारिमीमारिमीमा–
लीकालीकालकूटाऽकलितकलितयोल्लासमूहे समूहे ।

या मायामानहर्त्री भवविभवविदां दत्तविश्वासविश्वा-
नाप्तानाप्ताभिशङ्का विमदविमदनत्रासमोहाऽसमोहा २

तीर्थे इति ॥ *सा* 'तीर्थेशराजी' तीर्थंकरश्रेणिः 'तीर्थे' सङ्घे भवं-संसारं लुदतीति 'भवलुत्' संसारोच्छेदकरी भवतु । किं० ? 'अस्ता० कूटा' अरिभ्यः-वैरिभ्यो भीः-भयं अरिभीः सा च मारिः-मरकश्च भीमालीकाली-भीषणानृत्तश्रेणिश्च अरिभीमालीकाल्यः, ता एव कालकूटानि अरि० कूटानि, अस्तानि-निराकृतानि तानि यया सा तथा । सा का ? या 'भवविभवविदां' संसारधनप्राप्तिभाजां 'समूहे' चक्रे 'अकलितकलितया' अप्राप्तक्लेशतया 'उल्लासम्' आनन्दम् 'ऊहे' वहते स्म, नहि दुःखप्रतिकारमात्रे सुखप्रतिभासधारिणां संसारिणामीदृशं सुखमस्ति यादृशमनुभवन्ति वीतमोहा लब्धात्मस्वभावाः । या किं० ? मायामानौ-दम्भस्मयौ हरतीति मायामानहर्त्री । पुनः किं० ?[1]विशिष्टं मदनः*

....

..............* । पुनः किं० ? असमाः-निरुपमाः ऊहाः-विचारा यस्याः सा तथा ॥ २ ॥

गौरागौरातिकीर्तेः परमपरमतह्रासविश्वासविश्वा-
ऽऽदेया देयान्मुदं मे जनितजनितनूभावतारावतारा ।

---

१ अत्र त्रुटितपाठपूर्तिरवचूर्यनुसारेण क्रियते—"दत्तो विश्वासो यत्र एतादृशं यद् विश्व-जगत् तेन अनाप्ता-अप्राप्ताऽनाप्ताभिशङ्का-अशिष्टशङ्का यस्याः सा, (पुन किं० ?) विमदा-मदरहिता चासौ विमदनत्रासमोहा च-गतकामोहाना चेति विमद-मोहा ।"

मुनिजननिकरश्चरित्रे पवित्रे परिक्षीण–
कर्मा स्फुरज्ज्ञानभाक् सिद्धशर्माणि लेभेतरा–
मुदितविभवसन्निधानेऽसमोहस्य सिद्धार्थ–
नामक्षमाभृत्कुमाराऽपहेयस्य वाऽऽचारतः ॥ १ ॥

तवेति० ॥ हे 'अनिशं' निरन्तरं मुदित!–आनन्दित !, हे 'पाथोधिगम्भीर !' समुद्रवदलब्धमध्य ! हे 'धीर !' पण्डित !, हे 'विभव !' विगतो भवः–संसारो यस्यासौ विभवः तस्य आमन्त्रणम्, हे 'सिद्धार्थ !' सिद्धः–परिनिष्ठितोऽर्थः–धर्मादिर्यस्य कृतकृत्यत्वात् तस्याऽऽमन्त्रणम्, 'नाम' इति कोमलामन्त्रणे, अथवा हे 'सिद्धार्थनाम !' गुणनिष्पन्नार्थाभिधान ! इत्येकं पदम्, हे 'क्षमा-भृत् !' *क्षमां–* तितिक्षां बिभर्तीति क्षमाभृत् तस्यामन्त्रणम्, हे 'सिद्धार्थनामक्षमाभृत्कुमार !' सिद्धार्थाभिधानक्षोणिपालक्षीरकण्ठ !, हे 'जिनवर !' तीर्थंकरप्रवर !, हे महावीर ! तस्य तव 'सन्निधाने' समीपे 'रतिं' चित्तोत्साहं 'बद्ध्वा' एकाग्रीकृत्य अहं 'योगमार्गं' रत्नत्रयपवित्राक्षयं 'भजेयं' श्रयेयम् । तव किम्भूतस्य ? असमाः–निरुपमा ऊहाः–विचारा यस्य *स* तथा तस्य । पुनः किं० ? सह मोहेन वर्तते यः स समोहः न समोहोऽसमोहः तस्य । पुनः किं० ? अप–गतं हेयं–त्यक्तव्यं यस्य निराश्रवत्वात् भवोपग्राहिणामपि च कर्मणामल्पस्थितिकत्वेन दग्धरज्जुस्थानीयत्वात्, तस्य । सन्निधाने किम्भूते ? कुत्सितो यो मारः–कन्दर्पः कोः–पृथिव्या वा मारः–मृत्युः तम् अपहन्ति–अपनयति यत् तत्र । पुनः किं० उदितम्–उत्पन्नं विभवेन–धनेन सत्–शोभनं निधानं–महापद्मादि यस्मात्

तस्मिन् । तस्य कस्य ? यस्य 'वाचा' वाण्या 'पवित्रे' मिथ्यात्वमलराहित्येन पावने 'चरित्रे' विहितानुष्ठाने 'रतः' आसक्तः 'मुनिजननिकरः' साधुजनसमूहः, 'वा' इति पादपूरणे, 'आचारतः' ज्ञानाचारादिकमाराध्य परि–सामस्त्येन क्षीणं–क्षयं गतं कर्म–मोहनीयादि यस्य तादृशः सन् स्फुरत्–देदीप्यमानं ज्ञानं–केवलावबोधाख्यं भजतीति तद्भाक्, तादृशः 'सिद्धशर्माणि' मोक्षसुखानि 'लेभेवरां' प्रापत्तमाम् ॥ १ ॥

नयकमलविकासने का सुरी विस्मयस्मेर–
नेत्राऽजनि प्रौढभामण्डलस्य क्षतध्वान्त ! हे !,
न तव रविभया समानस्य रुच्याऽङ्गहारा–
हितेऽपारिजातस्य भास्वन् ! महे लास्यभारोचिते ।
कनकरजतरत्नसालत्रये देशनां तन्वतो
ध्वस्तसंसार ! तीर्थेशवार ! द्युसद्धोरणी–
नत ! वर ! विभयासमानस्य रुच्याङ्गहारा
हिते पारिजातस्य भास्वन्महेलास्यभारोचिते ॥ २ ॥

नयेति ॥ 'हे क्षतध्वान्त !' क्षतम्–अपनीतं ध्वान्तं–बाह्याभ्यन्तरभेदभिन्नं तमो येन तस्याऽऽमन्त्रणम्; हे 'भास्वन् !' सूर्य !, क विधेये ? इत्याह–नयाः–नीतय एव कमलानि–पद्मान्यत्र(यास्ते)षां विकासने–उज्जृम्भणे; हे 'ध्वस्तसंसार !' ध्वस्तः–हेतूच्छेदादपनीतः संसारः–जन्मपरम्परारूपो येन तस्याऽऽमन्त्रणम्, हे द्युसद्धोरणीनत !' देवश्रेणीनमस्कृत !, हे 'वर !' प्रधान !, हे 'तीर्थेशवार !' तीर्थकरसमूह !, कनकरजतरत्नानां–हेमरूप्यमणीनां साल-

त्रये–वप्रत्रये 'देशना' धर्मोपदेशं 'तन्वतः' प्रपञ्चयतस्तव 'महे' उत्सवे 'का सुरी' का देवी विस्मयेन–आश्चर्येण स्मेरे–उत्फुल्ले नेत्रे–लोचने यस्यास्तादृशी नाजनि ? अपि तु सर्वाऽपि तादृशी अजनि । तव किम्भूतस्य ? प्रौढ–प्रकृष्ट भामण्डलं यस्य स तथा तस्य । पुनः कि० 'रुच्या' कान्त्या प्रकृष्टभास्वररूपवत्त्वात् 'रविभया' तरणि॰कान्त्या 'समानस्य' सदृशस्य । पुनः किं० अप–गतम् अरिजातं–रिपुचक्र यस्मात् स तथा तस्य । पुनः कि० वि–गत भय अस्मादसौ विभयः, सह मानेन–अहङ्कारेण वर्तत इति समान॰, न समानः असमान॰, विभयश्चासावसमानश्च विभयासमानस्तस्य । पुनः किं० 'हिते' मनोवाञ्छितसुखे 'पारिजातस्य' सुरतरुसदृशस्य । महे किम्भूते ? अङ्गहारेण–अङ्गविक्षेपेण आहिते–न्यस्ते । पुन॰ किं० लासभारेण–नृत्यभरेण उचिते–राजमाने । पुनः किं० भास्वत्–दीप्यमान यत् महेलाना–रमणीनाम् आस्यं–वदन तस्य या भा–कान्तिस्तया रोचिते–दिदृक्षूणा रुचियतमेंप्रापिते । सुरी किं० ? हृद्यो–रमणीयो अङ्के–वक्षसि हारो यस्याः सा तथा ॥ २ ॥

वचनमुचितमर्हतः संश्रय श्रेयसे प्रीणयद्
　भव्य ! भीमे दधद् ध्वस्ततापं भवाम्भोनिधौ,
परमतरणहेतुलाभं गुरावाऽऽर्यमानन्दिता–
　ऽपायशो भावतो भासमानस्य माराजितम् ।
दलितजगदसद्ग्रहं हेतुदृष्टान्तनिष्पिष्ट–
　सन्देहसन्दोहमद्रोह ! निर्मोह ! निःशेषिता–

परमतरण ! हेऽतुलाभङ्गुरावार्यमानं दिता-
पाय ! शोभावतो भासमानस्य माराजितम् ॥ ३ ॥

वचनमिति ॥ हे 'आनन्दित !' लब्धानन्द !, हे 'अद्रोह !' द्रोहरहित !, हे 'निर्मोह !' अज्ञानरहित !, हे 'निःशेषितापरमवरण !' निश्शेषितं–समापितम् अपरेषां–शाक्यादीनां दुर्नयात्मकत्वादपरम्–अनुत्कृष्टं वा मतमेव–दर्शनमेव रणं–संग्रामो येन स तथा तस्य सम्बोधनम्, हे 'दितापाय !' दितः–खण्डितोऽपायः–अन्तरायो येन तस्यामन्त्रणम्, हे भव्य ! त्वम् 'आर्यं' ज्ञानदर्शनादि आर्यलोकं *वा* 'प्रीणयद्' आनन्दयद् 'अर्हतः' तीर्थकरस्य 'उचितम्' अबाधिततया राजमानं 'वचनं' सकलगणिपीटकस्वरूपं 'श्रेयसे' कल्याणार्थं 'भावतः' श्रद्धातः 'संश्रय' भजस्व । किं कुर्वन् ? 'भीमे' भीषणे 'गुरौ' महति 'भवाम्भोनिधौ' संसारसमुद्रे 'परमतरणहेतुलाभम्' अतिशयितपारगमननियन्धनज्ञानदर्शनाद्युपायं 'दधत्' कुर्वत्। पुनः किम्भूतम् ? ध्वस्तः–अपनीतस्तापो येन तत्तथा । पुनः किं० ? 'अपायशः' अप–गतम् अयशो यस्मात् तत् तथा । पुनः किं० ? मारेण–कन्दर्पेण अजितम्–अवशीकृतम् । पुनः किं० ? दलित.–अपनीतो जगतोऽसद्ग्रहः–अलीकाभिनिवेशो येन तत् तथा, निवर्तते हि मिथ्यात्वनिमित्तोऽसद्ग्रहः श्रुतोपलम्भे प्राणिनाम्, तद्बीजमिथ्यात्वविलयात् । पुनः किं० ? हेतुः–निश्चितान्यथानुपपत्त्येकलक्षणः दृष्टान्तश्च–निश्चितसाध्यधर्मिणि हेतुप्रदर्शनम् ताभ्यां निष्पिष्टः–अपनीतः सन्देहसन्दोहः–संशयसमूहो येन तत्तथा। पुनः किं० ? अतुलानि–निरुपमानि अभङ्गुराणि–विप-

क्षप्रमाणोपनिपातादविशरारूणि अवार्याणि–प्रतिकूलतर्काबाध्यानि मानानि–प्रमाणानि यस्मिन् तत् तथा। पुनः किं० ? भया–लक्ष्म्या ज्ञानेन वा राजितं–शोभितम्। अर्हतः किम्भूतस्य ? 'भासमानस्य' शोभमानस्य। पुनः किं० ? 'शोभावतः' लक्ष्मीवतः। पुनः किं० ? भया–कान्त्याऽसमानस्य–निरुपमानस्य ॥ ३ ॥

अहमहमिकया समाराद्धुमुत्कण्ठितायाः
क्षणे वाङ्मयस्वामिनी शक्तिमह्नाय दद्यात्तरां,
सकलकलशता रमाराजिता पापहाने
कलाभा स्थिताऽसद्विपक्षेऽमरालेरवार्या गमम्।
दधतमिह सतां दिशन्ती सदैङ्कारविस्फार–
सारस्वतध्यानदृष्टा स्वयं मङ्गलं तन्वती,
सकलकलशतारमाराजितापापहाऽने–
कलाभास्थिता सद्विपक्षे मराले रवार्यागमम् ॥ ४ ॥

॥ इति श्रीमहावीरजिनस्तुतिः ॥ २४ ॥

अहमहमिकयेति ॥ 'वाङ्मयस्वामिनी' प्रवचनाधिष्ठायिका भगवती 'इह' जगति 'सताम्' उत्तमानाम् 'अह्नाय' झटिति 'पापहाने' दुरितत्यागे 'शक्तिं' सामर्थ्यं 'दद्यात्तराम्' अतिशयेन दद्यात्। किम्भूता ? 'अहमहमिकया' अहं पूर्वमाराधयामीत्युत्कलिकया 'समाराद्धुं' संसेवितुम् 'उत्कण्ठितायाः' कृतोत्कण्ठायाः 'अमरालेः'

---

१ अवचूर्याम्–"रहस्यागमम्" इति पाठानुसारेण व्याख्या–"महसा हसितुमयोग्या।" अन्यत्र "रहस्यागमं–रहस्यभूत आगमो रहस्यागम –(द्वादशाङ्गगणिपीटकम्) तम्" ॥

सुपर्वश्रेण्याः 'क्षणे' उत्सवे 'सकलकलशता' कलकलः—कोलाहल-स्तस्य शतं कलकलशतं सह तेन वर्तते या सा तथा, तामाराद् बहवो देवा मिलिता उच्चैर्भगवत्या नाम जपन्तो जगत् कोलाहला-द्वैतकलितं कुर्वन्तीत्यर्थः । पुनः किं० ? रमया—लक्ष्म्या राजिता—शोभिता । पुनः किं० ? कला—मनोहरा आभा—शोभा यस्याः सा तथा । पुनः किं० ? 'मराले' राजहंसे 'स्थिता' आसीना, मराले किम्भूते ? न सन्ति विपक्षाः—शत्रवो यस्य स तथा तस्मिन् । पुनः किं०? सन्तौ—उत्तमौ वि—विशिष्टौ पक्षौ—पतत्रे यस्य स तथा तस्मिन् । किं कुर्वती ? रवार्थाः नाम—भाषार्थी अर्द्धमागधभाषया भाषणशी-लास्तीर्थङ्करादयः तत्सम्बन्धिनम् आगमं—द्वादशाङ्गगणिपीटकं 'दिश-न्ती' प्रयच्छन्ती, रवार्थागमं किं कुर्वन्तम् ? 'गमं' सदृशपाठं 'दधतं' बिभ्रतम्, द्वादशाङ्गगणिपीटकस्य गमकलितत्वादिति भावः । पुनः किं कुर्वती ? 'सदा' नित्यं 'स्वयम्' आत्मना 'मङ्गलं' कल्याण 'तन्वती' विदधती, मङ्गलं कीदृशम् ? सकलकलशवत्—सम्पूर्णकुम्भ-वत् तारं—मनोहरं लक्ष्मीप्रदं वा, यथा पूर्णकलशदर्शनमेव मङ्गल्यं तथा भगवत्या दर्शनमपीति भावः । किम्भूता ? ऐंकारेण—वाग्बीजा-क्षरेण विस्फारम्—अत्युदारं यत् सारस्वतध्यानं—सारस्वतमन्त्रप्रणि धानं तेन दृष्टा—भावनाविशेषेण साक्षात्कृता । पुनः किं० ? 'अचार्य' केनाऽपि प्रतिपन्थिना वारयितुमशक्या । पुनः किं० ? अरीणां समूह आरस्तस्य य आजिः—संग्रामः तस्य यो तापस्तमपहन्ति—अपनयति या सा तथा । पुनः किं० ? अनेके लाभाः—श्रुतातिश-यविशेषरूपा येषां गणधरादीनां तैः 'आश्रिता' अङ्गीकृता,

"कुम्मसुसंठिअचलणा, अमलियकोरंटविंटसंकासा ।
सुअदेवया भगवई, मंम मइतिमिरं पणासेउ ॥"

इत्यादिना गणधरैरपि भगवत्याः प्रणिधानात्, श्रुतप्रामाण्यस्याप्याप्यत्वात् ॥ ४ ॥

॥ इति श्रीवर्द्धमानस्तुतिविवरणं समाप्तम् ॥ २४ ॥

॥ अथ मूलप्रशस्तिः ॥



यस्यासन् गुरवोऽत्र जीतविजयप्राज्ञाः प्रकृष्टाशया,
भ्राजन्ते सनया नयादिविजयप्राज्ञाश्च विद्याप्रदाः ।
प्रेम्णां यस्य च सद्म पद्मविजयो जातः सुधीः सोदरः,
सोऽयं न्यायविशारदः स तनुते विज्ञः स्तुतीरर्हताम् ॥१॥
कृत्वा स्तुतिस्रजमिमां, यदवापि शुभाशयान्मया कुशलम् ।
तेन मम जन्मबीजे, रागद्वेषौ विलीयेताम् ॥ २ ॥

॥ मूलग्रंथाग्रं–२१० ॥

॥ अथ विवरणप्रशस्तिः ॥



कृत्वा विवरणमेतज्जिनस्तुतीनां यदर्जितं पुण्यम् ।
तेन मम जन्मबीजे, रागद्वेषौ विलीयेताम् ॥ १ ॥
मन्थाः श्रीमदकब्बरक्षितिपतिस्तत्त्वोपदेशाम्बुधिः,
कुर्वाणा मथनं च तस्य विबुधा यस्याऽभवन् कोटिशः ।
अभ्युत्थापयितुं सुदर्शनभृतः प्रोद्दामकीर्तिः स्वयं,
संभोग्यां पुरुषोत्तमस्य नरकप्रध्वंसिपुण्यात्मनः ॥ २ ॥

रङ्गन्मङ्गलवृत्तगीतविजितानङ्गप्रसङ्गप्रथा
श्रेयःसङ्गभृदङ्गजङ्गमजगत्कल्पद्रुमस्तुङ्गधीः ।
दुर्व्यासङ्गमतङ्गजव्रजहरिर्निर्भङ्गसौभाग्यभूः,
स श्रीमत्तपगच्छमण्डनमभूत् श्रीहीरसूरीश्वरः ॥ ३ ॥
तत्पट्टप्रथितप्रभुत्वनलिनप्रोल्लासने भास्करः,
सूरिश्रीविजयादिसेनसुगुरुर्वभ्राज राजस्तुतः ।
गोहीराजसभात्मके विलसितां प्रत्यर्थिकीर्त्तिस्फुर–
द्दूर्वाग्रासपरां स नित्यमिह यो गां दोग्धि दुग्धं यशः ॥ ४ ॥
तत्पट्टप्रभुतालताजलधरः शिष्टप्रियो द्योतते,
सूरिश्रीविजयादिदेवसुगुरुर्माहात्म्यलीलागृहम् ।
यस्याऽऽचाम्लपयःप्लुतेऽपि हृदये चित्रं तदुद्दीप्यते,
नाभूद् यत्र....तानपङ्कसहिता यत्र क्षमा वर्तते ॥ ५ ॥
तत्पट्टप्रभुतैककार्मणगुणग्रामाभिरामाकृतिः,
सूरिश्रीविजयादिसिंहसुगुरुर्जागर्त्ति धामाधिकः ।
गह्वालो यमुना विधोश्च न भिदां राहुर्गतः सर्वतः,
शुभ्रे यस्य यशोभरे प्रसृमरे श्यामा त्रियामाऽपि न ॥ ६ ॥
इतश्च—
गच्छे स्वच्छतरे तेषां, परिपाट्योपतस्थुषाम् ।
कवीनामनुभावेन, नवीनां रचनां व्यधाम् ॥ ७ ॥
तथाहि—
लावण्यैकमयी तनुर्ननु मुखे जिह्वा च विद्यामयी,
कीर्त्तिः स्फूर्त्तिमयी मतिर्धृतिमयी येषां कथा चिन्मयी ।

मूर्तिर्भाग्यमयी स्थितिर्नयमयी शोभामयी सङ्गतिः,
श्रीकल्याणविराजमानविजयास्ते वाचकेन्द्रा बभुः ॥ ८ ॥

हैमव्याकरणं दधीव नियतं व्यालोड्य बुद्ध्या तथा,
यैः स्फीतं नवनीतमुद्धृतमहो ! शीतांशुशुभ्रं यशः ।
ते सारस्वतसारसंग्रहरहःक्रीडानिबद्धादराः,
श्रीलाभाद् विजयाभिधानविबुधा भेजुः प्रभुत्वं परम् ॥ ९ ॥

तत्राभ्यासनवाङ्कुरः पदविधिव्युत्पत्तिसत्पल्लवः,
काव्यालङ्कृतिपुष्पितः परिणतीरान्वीक्षिकीहेतुभिः ।
येषां द्राग् मयि नन्दनेऽत्र फलितः कारुण्यकल्पद्रुम-
स्ते विज्ञाः स्म जयन्ति जीतविजयाः कल्याणकन्दाम्बुदाः १०

मामध्यापयितुं सदाऽऽसनसमभ्यासीनकाशीमहा-
सन्नाशीरितयोगदुर्जयपरत्रासी यदीयः श्रमः ।
आसीन्निर्मलकुन्दिन्दुशुभ्रयशसो दासीकृतक्ष्माभुजो
नोल्लासी भुवि तान् नयादिविजयप्राज्ञानुपासीन्न कः ? ११

एतद्दत्तनिदेशपेशलल्लसत्प्राचीनपुण्योदया-
द्राचीर्णोचितसत्प्रबन्धरचनालम्पेच्छमुच्छता ।
व्युत्पत्त्यै विदुषां स्फुटं विवरणं चक्रे स्तुतीनामद-
स्तत्पादाम्बुजसेवकेन यतिना साहित्यसिन्धोः सुधा ॥ १२ ॥

सूर्याचन्द्रमसौ यावदुदयेते नभस्तले ।
तावन्नन्दत्वयं ग्रन्थो, वाच्यमानो विचक्षणैः ॥ १३ ॥

॥ समाप्तेयं स्वोपज्ञविवरणयुता ऐन्द्रस्तुतिचतु[illegible]

॥ अर्हम् ॥

महोपाध्यायश्रीमद्यशोविजयविरचिता

परमज्योतिष्पञ्चविंशतिका ।



ऐन्द्रं तत् परमं ज्योति–रुपाधिरहितं स्तुमः ।
उदिते स्युर्यदंशेऽपि, सन्निधौ निधयो नव ॥ १ ॥
प्रभा चन्द्रार्कभादीनां, मितक्षेत्रप्रकाशिका ।
आत्मनस्तु परं ज्योति–र्लोकालोकप्रकाशकम् ॥ २ ॥
निरालम्बं निराकारं, निर्विकल्पं निरामयम् ।
आत्मनः परमं ज्योति–र्निरुपाधि निरञ्जनम् ॥ ३ ॥
दीपादिपुद्गलापेक्षं, समलं ज्योतिरक्षजम् ।
निर्मलं केवलं ज्योति–र्निरपेक्षमतीन्द्रियम् ॥ ४ ॥
कर्मनोकर्मभावेषु, जागरूकेष्वपि प्रभुः ।
तमसाऽनावृतः साक्षी, स्फुरति ज्योतिषा स्वयम् ॥ ५ ॥
परमज्योतिषः स्पर्शा–दपरं ज्योतिरेधते ।
यथा सूर्यकरस्पर्शात्, सूर्यकान्तस्थितोऽनलः ॥ ६ ॥
पश्यन्नपरमं ज्योति–र्विवेकाद्रेः पतत्यधः ।
परमं ज्योतिरन्विच्छ–न्नाविवेके निमज्जति ॥ ७ ॥
तस्मै विश्वप्रकाशाय, परमज्योतिषे नमः ।
केवलं नैव तमसः, प्रकाशादपि यत् परम् ॥ ८ ॥

१'आत्मज्योतिःस्वरूपपञ्चविंशतिका' इत्यभिधानान्तरमस्या ॥२"न ये" प्र०॥

ज्ञानदर्शनसम्यक्त्व–चारित्रसुखवीर्यभूः ।
परमात्मप्रकाशो मे, सर्वोत्तमकलामयः ॥ ९ ॥
यां विना निष्फलाः सर्वाः, कला गुणबलाधिकाः ।
आत्मधामकलामेकां, तां वयं समुपास्महे ॥ १० ॥
निधिभिर्नवभी रत्नै–श्चतुर्दशभिरप्यहो ।
न तेजश्चक्रिणां यत् स्यात्, तदात्माधीनमेव नः ॥११॥
दम्भपर्वतदम्भोलि–ज्ञानध्यानधनाः सदा ।
मुनयो वासवेभ्योऽपि, विशिष्टं धाम बिभ्रति ॥ १२ ॥
श्रामण्ये वर्षपर्यायात्, प्राप्ते परमशुक्लताम् ।
सर्वार्थसिद्धदेवेभ्यो–प्यधिकं ज्योतिरुल्लसेत् ॥ १३ ॥
विस्तारिपरमज्योति–र्द्योतिताभ्यन्तराशयाः ।
जीवन्मुक्ता महात्मानो, जायन्ते विगतस्पृहाः ॥ १४ ॥
जाग्रत्यात्मनि ते नित्यं, बहिर्भावेषु शेरते ।
उदासते परद्रव्ये, लीयन्ते स्वगुणामृते ॥ १५ ॥
यथैवाऽभ्युदितः सूर्यः, पिदधाति महान्तरम् ।
चारित्रपरमज्योति–र्द्योतितात्मा तथा मुनिः ॥ १६ ॥
प्रच्छन्नं परमं ज्योति–रात्मनोऽज्ञानभस्मना ।
क्षणादाविर्भवत्युग्र–ध्यानवातप्रचारतः ॥ १७ ॥
परकीयप्रवृत्तौ ये, मूकान्धबधिरोपमाः ।
स्वगुणार्जनसज्जाश्च, तैः परं ज्योतिराप्यते ॥ १८ ॥

---

१ "द्वि" प्र० । २ "सिद्धि" प्र० । ३ "चारितः परमज्योति–" प्र० ।

परेषां गुणदोषेषु, दृष्टिस्ते विपदायिनी ।
स्वगुणानुभवालोकाद्, दृष्टिः पीयूषवर्षिणी ॥ १९ ॥
स्वरूपदर्शनं श्लाघ्यं, पररूपेक्षणं वृथा ।
एतावदेव विज्ञानं, परं ज्योतिष्प्रकाशकम् ॥ २० ॥
लोकमप्याऽऽत्मनो ज्योतिः, पश्यतो दीपवद्धितम् ।
अन्धस्य दीपशतवत्, परं ज्योतिर्न यद्यपि ॥ २१ ॥
भगवामृतमग्नानां, समाधिधूतपाप्मनाम् ।
रत्नत्रयमयं शुद्धं, परं ज्योतिष्प्रकाशते ॥ २२ ॥
तीर्थङ्करा गणधरा, लब्धिसिद्धाश्च साधवः ।
संजातास्त्रिजगद्वन्द्याः, परं ज्योतिष्प्रकाशतः ॥ २३ ॥
न रागं नापि च द्वेषं, विषयेषु यदा व्रजेत् ।
औदासीन्यनिमग्नात्मा, तदाऽऽप्नोति परं महः ॥ २४ ॥
विज्ञाय परमं ज्योति–र्माहात्म्यमिदमुत्तमम् ।
यः स्थैर्यं याति लभते, स यशोविजयश्रियम् ॥ २५ ॥

॥ समाप्तेयं परमज्योतिष्पञ्चविंशतिका ॥

ज्ञानदर्शनसम्यक्त्व–चारित्रसुखवीर्यभूः ।
परमात्मप्रकाशो मे, सर्वोत्तमकलामयः ॥ ९ ॥
यां विना निष्फलाः सर्वाः, कला गुणबलाधिकाः ।
आत्मधामकलामेकां, तां वयं समुपास्महे ॥ १० ॥
निधिभिर्नवभी रत्नै–श्चतुर्दशभिरप्यहो ।
न तेजश्चक्रिणां यत् स्यात्, तदात्माधीनमेव नः ॥११॥
दम्भपर्वतदम्भोलि–ज्ञानध्यानधनाः सदा ।
मुनयो वासवेभ्योऽपि, विशिष्ट धाम बिभ्रति ॥ १२ ॥
श्रामण्ये वर्षपर्यायात्, प्राप्ते परमशुक्लताम् ।
सर्वार्थसिद्धदेवेभ्यो–प्यधिकं ज्योतिरुल्लसेत् ॥ १३ ॥
विस्तारिपरमज्योति–र्द्योतिताभ्यन्तराशयाः ।
जीवन्मुक्ता महात्मानो, जायन्ते विगतस्पृहाः ॥ १४ ॥
जाग्रत्यात्मनि ते नित्यं, बहिर्भावेषु शेरते ।
उदासते परद्रव्ये, लीयन्ते स्वगुणामृते ॥ १५ ॥
यथैवाऽभ्युदितः सूर्यः, पिदधाति महान्तरम् ।
चारित्रपरमज्योति–र्द्योतितात्मा तथा मुनिः ॥ १६ ॥
प्रच्छन्नं परमं ज्योति–रात्मनोऽज्ञानभस्मना ।
क्षणादाविर्भवत्युग्र–ध्यानवातप्रचारतः ॥ १७ ॥
परकीयप्रवृत्तौ ये, मूकान्धबधिरोपमाः ।
स्वगुणार्जनसज्जाश्च, तैः परं ज्योतिराप्यते ॥ १८ ॥

---

१ "द्वि" प्र० । २ "सिद्धि" प्र० । ३ "स्वात्तं परमज्योति–" प्र० ॥

परेषां गुणदोषेषु, दृष्टिस्ते विषदायिनी ।
स्वगुणानुभवालोकाद्, दृष्टिः पीयूषवर्षिणी ॥ १९ ॥
स्वरूपादर्शनं श्लाघ्यं, पररूपेक्षणं वृथा ।
एतावदेव विज्ञानं, परं ज्योतिष्प्रकाशकम् ॥ २० ॥
लोकमध्याऽऽत्मनो ज्योतिः, पश्यतो दीपवद्धितम् ।
अन्धस्य दीपशतवत्, परं ज्योतिर्न यद्यपि ॥ २१ ॥
समतामृतमग्नानां, समाधिधूतपाप्मनाम् ।
रत्नत्रयमयं शुद्धं, परं ज्योतिष्प्रकाशते ॥ २२ ॥
तीर्थङ्करा गणधरा, लब्धिसिद्धाश्च साधवः ।
संजाताखिलजगद्वन्द्याः, परं ज्योतिष्प्रकाशतः ॥ २३ ॥
न रागं नापि च द्वेषं, विषयेषु यदा व्रजेत् ।
औदासीन्यनिमग्नात्मा, तदाऽऽप्नोति परं महः ॥ २४ ॥
विज्ञाय परमं ज्योति–र्माहात्म्यमिदमुत्तमम् ।
यः स्थैर्यं याति लभते, स यशोविजयश्रियम् ॥ २५ ॥

॥ समाप्तेयं परमज्योतिष्पञ्चविंशतिका ॥

॥ अर्हम् ॥

न्यायाचार्यमहोपाध्यायश्रीयशोविजयविरचिता

परमात्मपञ्चविंशतिका ।



परमात्मा परंज्योतिः, परमेष्ठी निरञ्जनः ।
अजः सनातनः शम्भुः, स्वयम्भूर्जयताज्जिनः ॥ १ ॥
नित्यं विज्ञानमानन्दं, ब्रह्म यत्र प्रतिष्ठितम् ।
शुद्धबुद्धस्वभावाय, नमस्तस्मै परात्मने ॥ २ ॥
अविद्याजनितैः सर्वैर्विकारैरनुपद्रुतः ।
व्यक्त्या शिवपदस्थोऽसौ, शक्त्या जयति सर्वगः ॥ ३ ॥
यतो वाचो निवर्तन्ते, न यत्र मनसो गतिः ।
शुद्धानुभवसंवेद्यं, तद्रूपं परमात्मनः ॥ ४ ॥
न स्पर्शो यस्य नो वर्णो, न गन्धो न रसश्रुती ? ।
शुद्धचिन्मात्रगुणवान्, परमात्मा स गीयते ॥ ५ ॥
माधुर्यातिशयो यद्वा, गुणौघः परमात्मनः ।
तथाऽऽख्यातु न शक्योऽपि, प्रत्याख्यातु न शक्यते ॥६॥
बुद्धो जिनो हृषीकेशः शम्भुर्ब्रह्माऽऽदिपूरुषः ।
इत्यादिनामभेदेऽपि, नार्थतः स विभिद्यते ॥ ७ ॥
धावन्तोऽपि नया नैके, तत्स्वरूपं स्पृशन्ति न ।
समुद्रा इव कल्लोलैः, कृतप्रतिनिवृत्तयः ॥ ८ ॥

शब्दोपरक्ततद्रूप–बोधकन्नयपद्धतिः ।
निर्विकल्पं तु तद्रूपं, गम्यं नानुभवं विना ॥ ९ ॥
केषां न कल्पनादर्वी, शास्त्रक्षीरान्नगाहिनी ।
स्तोकास्तत्त्वरसास्वाद–विदोऽनुभवजिह्वया ॥ १० ॥
जितेन्द्रिया जितक्रोधा, दान्तात्मानः शुभाशयाः ।
परमात्मगतिं यान्ति, विभिन्नैरपि वर्त्मभिः ॥ ११ ॥
नूनं मुमुक्षवः सर्वे, परमेश्वरसेवकाः ।
दूरासन्नादिभेदस्तु, तद्भृत्यत्वं निहन्ति न ॥ १२ ॥
नाममात्रेण ये दृप्ता, ज्ञानमार्गविवर्जिताः ।
न पश्यन्ति परात्मानं, ते घूका इव भास्करम् ॥ १३ ॥
श्रमः शास्त्राश्रयः सर्वो, यज्ज्ञानेन फलेग्रहिः ।
ध्यातव्योऽयमुपास्योऽयं, परमात्मा निरञ्जनः ॥ १४ ॥
नान्तरायो न मिथ्यात्वं, हासो रत्यरती च न ।
न भीर्यस्य जुगुप्सा नो, परमात्मा स मे गतिः ॥ १५ ॥
न शोको यस्य नो कामो, नाज्ञानाविरती तथा ।
नावकाशश्च निद्रायाः, परमात्मा स मे गतिः ॥ १६ ॥
रागद्वेषौ हतौ येन, जगत्त्रयभयङ्करौ ।
स त्राणं परमात्मा मे स्वप्ने वा जागरेऽपि वा ॥ १७ ॥
उपाधिजनिता भावा, ये ये जन्मजरादिकाः ।
तेषां तेषां निषेधेन, सिद्धं रूपं परात्मनः ॥ १८ ॥

---

१ '–बो' इत्यपि ॥

॥ अर्हम् ॥

न्यायाचार्यमहोपाध्यायश्रीयशोविजयविरचिता

परमात्मपञ्चविंशतिका ।



परमात्मा परंज्योतिः, परमेष्ठी निरञ्जनः ।
अजः सनातनः शम्भुः, स्वयम्भूर्जयताज्जिनः ॥ १ ॥
नित्यं विज्ञानमानन्दं, ब्रह्म यत्र प्रतिष्ठितम् ।
शुद्धबुद्धस्वभावाय, नमस्तस्मै परात्मने ॥ २ ॥
अविद्याजनितैः सर्वैर्विकारैरनुपद्रुतः ।
व्यक्त्या शिवपदस्थोऽसौ, शक्त्या जयति सर्वगः ॥ ३ ॥
यतो वाचो निवर्तन्ते, न यत्र मनसो गतिः ।
शुद्धानुभवसंवेद्यं, तद्रूपं परमात्मनः ॥ ४ ॥
न स्पर्शो यस्य नो वर्णो, न गन्धो न रसश्रुती ? ।
शुद्धचिन्मात्रगुणवान्, परमात्मा स गीयते ॥ ५ ॥
माधुर्यातिशयो यद्वा, गुणौघः परमात्मनः ।
तथाऽऽख्यातुं न शक्योऽपि, प्रत्याख्यातुं न शक्यते ॥६॥
बुद्धो जिनो हृषीकेशः शम्भुर्ब्रह्माऽऽदिपूरुषः ।
इत्यादिनामभेदेऽपि, नार्थतः स विभिद्यते ॥ ७ ॥
यावन्तोऽपि नया नैके, तत्स्वरूपं स्पृशन्ति न ।
समुद्रा इव कल्लोलैः, कृतप्रतिनिवृत्तयः ॥ ८ ॥

शब्दोपरक्ततद्रूप–बोधकृन्नयपद्धतिः ।
निर्विकल्पं तु तद्रूपं, गम्यं नानुभवं विना ॥ ९ ॥
केषां न कल्पनादर्वी, शास्त्रक्षीरान्नगाहिनी ।
स्तोकास्तत्त्वरसास्वाद्–विदोऽनुभवजिह्वया ॥ १० ॥
जितेन्द्रिया जितक्रोधा, दान्तात्मानः शुभाशयाः ।
परमात्मगतिं यान्ति, विभिन्नैरपि वर्त्मभिः ॥ ११ ॥
नूनं मुमुक्षवः सर्वे, परमेश्वरसेवकाः ।
दूरासन्नादिभेदस्तु, तद्भृत्यत्वं निहन्ति न ॥ १२ ॥
नाममात्रेण ये दृप्ता, ज्ञानमार्गविवर्जिताः ।
न पश्यन्ति परात्मानं, ते घूका इव भास्करम् ॥ १३ ॥
श्रमः शास्त्राश्रयः सर्वो, यज्ज्ञानेन फलेग्रहिः ।
ध्यातव्योऽयमुपास्योऽयं, परमात्मा निरञ्जनः ॥ १४ ॥
नान्तरायौ न मिथ्यात्वं, हासो रत्यरती च न ।
न भीर्यस्य जुगुप्सा नो, परमात्मा स मे गतिः ॥ १५ ॥
न शोको यस्य नो कामो, नाज्ञानाविरती तथा ।
नावकाशश्च निद्रायाः, परमात्मा स मे गतिः ॥ १६ ॥
रागद्वेषौ हतौ येन, जगत्त्रयभयङ्करौ ।
स त्राणं परमात्मा मे स्वप्ने वा जागरेऽपि वा ॥ १७ ॥
उपाधिजनिता भावा, ये ये जन्मजरादिकाः ।
तेषां तेषां निषेधेन, सिद्धं रूपं परात्मनः ॥ १८ ॥

---

१ '–यो' इत्यपि ॥

अतद्व्यावृत्तितो भीतं, सिद्धान्ताः कथयन्ति तम् ।
वस्तुतस्तु न निर्वाच्यं, तस्य रूपं कथञ्चन ॥ १९ ॥
जानन्नपि यथा म्लेच्छो, न शक्नोति पुरि(री)गुणान् ।
प्रवक्तुमुपमाभावात्, तथा सिद्धसुखं जिनः ॥ २० ॥
सुरासुराणां सर्वेषां, यत् सुखं पिण्डितं भवेत् ।
एकत्रापि हि सिद्धस्य, तदनन्ततमांशगम् ॥ २१ ॥
अदेहा दर्शनज्ञानो–पयोगमयमूर्त्तयः ।
आकालं परमात्मानः, सिद्धाः सन्ति निरामयाः ॥ २२ ॥
लोकाग्रशिखरारूढाः, स्वभावसमवस्थिताः ।
भवप्रपञ्चनिर्मुक्ताः, युक्तानन्तावगाहनाः ॥ २३ ॥
इलिका भ्रमरीध्यानात्, भ्रमरीत्वं यथाश्नुते ।
तथा ध्यायन् परात्मानं, परमात्मत्वमाप्नुयात् ॥ २४ ॥
परमात्मगुणानेवं, ये ध्यायन्ति समाहिताः ।
लभन्ते निभृतानन्दा–स्ते यशोविजयश्रियम् ॥ २५ ॥

॥ समाप्तेयं परमात्मपञ्चविंशतिका ॥

॥ अर्हम् ॥

न्यायाचार्यश्रीयशोविजयोपाध्यायविरचितं

विजयप्रभसूरेः स्वाध्यायम् ।



श्रीविजयदेवसूरीशपट्टाम्बरे,
जयति विजयप्रभसूरिरर्कः ।
येन वैशिष्ट्यसिद्धिप्रसङ्गादिना,
निंजगृहे योगसमवायतर्कः ॥ श्रीवि० १ ॥
ज्ञानमेकं भवद् विश्वकृन् केवलं,
दृष्टबाधा तु कर्तरि समाना ।
इति जगत्कर्तृलोकोत्तरे सङ्गते,
सङ्गता यस्य धीः सावधाना ॥ श्रीवि० २ ॥
ये किलापोहशक्तिं सुगतसूनवो,
जातिशक्तिं च मीमांसका ये ।
संगिरन्ते गिरं ते यदीयां नय-
द्वैतपूतां प्रसह्य श्रयन्ते ॥ श्रीवि० ३ ॥
कारणं प्रकृतिरङ्गीकृता कापिलैः
कापि नैवाऽऽत्मनः काऽपि शक्तिः ।

१ निपूर्वकस्य गृह्णातेर्धातोः परोक्षारूपम् । २ "भवद्व वि-" प्रत्यन्तरे । ३ "कर्तृवादोत्तरे" प्रत्यन्तरे ॥

बन्धमोक्षव्यवस्था तदा दुर्घटे-
त्यत्र जागर्ति यस्यौढेशक्तिः ॥ श्रीवि० ४ ॥

शाब्दिकाः स्फोटसंसाधने तत्परा
ब्रह्मसिद्धौ च वेदान्तनिष्ठाः ।
सम्मतिप्रोक्तसमहरहस्यान्तरे
यस्य वाचा जितास्ते निविष्टाः ॥ श्रीवि० ५ ॥

ध्रौव्यमुत्पत्तिविध्वंसकिर्मीरितं
द्रव्यपर्यायपरिणतिविशुद्धम् ।
विसदृशायोगसद्भावभेदाहितं
स्वसमयस्थापितं येन बुद्धम् ॥ श्रीवि० ६ ॥

इति नुतः श्रीविजयप्रभो भक्ति-
स्तर्कयुक्त्या मया गच्छनेता ।
श्रीयशोविजयसम्पत्करः श्रुतधिया-
मस्तु विघ्नापहः शर्मजेता ॥ श्रीवि० ७ ॥

॥ समाप्तमिदं विजयप्रभसूरेः स्वाध्यायम् ॥

---

१ "-ढ्युक्ति-" प्रत्यन्तरे । २ "-नुनेता" प्रत्यन्तरे ॥

॥ अर्हम् ॥

यशोविजयोपाध्यायविरचितं

शत्रुञ्जयमण्डनश्रीऋषभदेवस्तवनम् ।

आदिजिनं वन्दे गुणसदनं, सदनन्तामलबोधम् ।
बोधकतागुणविस्तृतकीर्त्तिं, कीर्त्तितपथमविरोधम् ॥ आदि० ॥ १ ॥
रोधरहितविस्फुरदुपयोगं, योगं दधतमभङ्गम् ।
भङ्गनयव्रजपेशलवाचं, वाचंयमसुखसङ्गम् ॥ आदि० ॥ २ ॥
सङ्गतपदशुचिवचनतरङ्गं, रङ्गं जगति ददानम् ।
दानसुरद्रुममञ्जुलहृदयं, हृदयङ्गमगुणभानम् ॥ आदि० ॥ ३ ॥
भानन्दितसुरवरपुन्नागं, नागरमानसहंसम् ।
हंसगतिं पञ्चमगतिवासं, वासवविहिताशंसम् ॥ आदि० ॥ ४ ॥
शंसन्तं नयवचनमनवमं, नवमङ्गलदातारम् ।
तारस्वरमघघनपवमानं, मानसुभटजेतारम् ॥ आदि० ॥ ५ ॥

इत्थं स्तुतः प्रथमतीर्थपतिः प्रमोदा-
च्छ्रीमद्यशोविजयवाचकपुङ्गवेन ।
श्रीपुण्डरीकगिरिराजविराजमानो,
मानोन्मुखानि वितनोतु सतां सुखानि ॥ ६ ॥

॥ समाप्तमिदं श्रीऋषभदेवस्तवनम् ॥

